रत्नाकर और उनका काव्य

उषा जायसवाल
एम० ए०, एल० टी०

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी—१

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरी एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबन्ध का ही थोड़ा-बहुत परिवर्तित स्वरूप है। श्री रत्नाकर जी का 'उद्धव-शतक' आधुनिक व्रजभाषा काव्य का श्रेष्ठतम तथा हिन्दी साहित्य में, पुरानी परम्परा के अनुसार रचित, अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। इसी ग्रंथ के आकर्षण ने मुझे रत्नाकर के अन्य ग्रंथों को पढ़ने की प्रेरणा दी, जिसके फलस्वरूप यह छोटा-सा अध्ययन प्रस्तुत हो सका।

परिस्थितियों का जीवन पर तथा जीवन का काव्य पर अपरोक्ष रूप में प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, अतः सर्वप्रथम रत्नाकर जी को उनकी परिस्थितियों के बीच रख कर, उनके प्रति न्यायपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने का प्रयास है। इसके उपरान्त उनके काव्य का वर्गीकरण करके उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा व्यापक-दृष्टि का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। पुनः उन पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली गई है। अन्त में रत्नाकर जी की विचारधारा के प्रवाह पर दृष्टिपात करते हुए उनका हिन्दी-साहित्य में उचित स्थान निर्धारित करने का प्रयास है। रत्नाकर जी के समसामयिक व्रजभाषा के कवियों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने एम० ए० में प्रबन्ध लिखने की मेरी आकांक्षा-पूर्ति का मुझे अवसर प्रदान किया तथा श्रद्धेय डा० श्रीकृष्णलाल जी ने निबन्ध-निर्देशन का उत्तरदायित्व लेकर मुझे अनुगृहीत किया, इसके लिए मैं आभारी हूँ। उनकी कृपा, सौजन्य, सद्-निर्देशन एवं सहायता से ही प्रस्तुत पुस्तक पूर्ण हो सकी, यह कहना अत्युक्ति नहीं है। इसमें मेरा प्रयास न्यूनतम तथा गुरुजनों का आशीर्वाद ही अधिकतम है। कुछ शब्दों में कृतज्ञता प्रकट कर धृष्टता प्रकट करने का साहस मुझमें नहीं है। केवल श्रद्धा ही मेरी कृतज्ञता है।

श्री रत्नाकर जी के उदार पौत्र श्री रामकृष्ण जी की भी मैं अनुगृहीत हूँ। रत्नाकर जी के जीवन से सम्बन्धित विशेष बातों का ज्ञान इनके सौजन्य-

वश ही प्राप्त हो सका। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे सदैव समय तथा सामग्री प्रदान करके सहायता प्रदान की है।

यदि प्रस्तुत पुस्तक से रत्नाकर जी की जीवनी एवं उनके काव्य पर कुछ भी प्रकाश पड़ सके तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूँगी। प्रस्तुत पुस्तक में त्रुटियों का होना सम्भव है, आशा है उदार पाठक क्षमा करेंगे।

उषा जायसवाल

७-४-५६

भूमिका

किसी बहुप्रयुक्त विषय, वस्तु वा पथ से हटाकर किसी नूतन विषय, वस्तु वा पथ की ओर आकृष्ट करने के लिए उपदेष्टा-जनों का प्रायः कर्तव्य हो जाता है कि उस रूढ़ या परम्परा-प्रयुक्त विषय, वस्तु किंवा पथ के दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर या उसमें कल्पित दोषों की उद्भावना करके उससे लोगों को विरत करें। हिंदी-साहित्य के गद्यक्षेत्र में खड़ी बोली के प्रतिष्ठित हो जाने पर मनीषियों का ध्यान काव्य की ओर भी गया और उन्होंने गद्य तथा पद्य की भाषा में एकरूपता लाने के लिए कवियों का आह्वान किया। जिस भाषा ने पाँच-छः सौ वर्षों के अपने शासन-काल में जन-मन पर अधिकार कर लिया था, उसके प्रति सहसा विरक्ति ला देना सहज नहीं था। किंतु स्कूलों में शिक्षा का माध्यम खड़ी बोली हो जाने से व्रज-भाषा के संसर्ग से नई पीढ़ी उत्तरोत्तर दूर हटती गई, केवल पाठ्य-पुस्तकों में निर्धारित प्राचीन कवियों की कविताएँ पढ़ते समय ही व्रजभाषा का साक्षात्कार हो पाता था। प्राचीनकाल से चला आता हुआ काव्याभ्यास एवं स्वाध्याय नई पीढ़ी से प्रायः दूर होने लगा था। ऐसी स्थिति में व्यवहार-क्षेत्र से दूर रहने वाली भाषा के काव्य को समझना भी सबके लिए सहज नहीं था। इसी बीच साहित्यिक नेताओं ने खड़ी बोली को ही अपनाने का प्रचार भी आरम्भ कर दिया। निशाना ठीक स्थान पर लगा और बहुत से नवशिक्षित नवयुवक भावावेश में व्रज-भाषा से विद्रोह के झोंक में पूर्वनिर्मित व्रज-भाषा-काव्य के भी विद्रोही हो गए। किंतु जिन्होंने व्रजभाषा की रस-सरिता में अवगाहन का आनंद प्राप्त कर लिया था, उन्हें यह उपेक्षा विशेष रूप से अखरी।

नवीनता का ग्रहण गतिशीलता का द्योतक है जरूर, किंतु जो कुछ प्राचीन है उसका सर्वथा परित्याग भी अविवेक का परिणाम ही कहा जायगा। कवि-शिरोमणि कालिदास का यह उद्घोष शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चेति काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

ब्रजभाषा सर्वथा उपेक्षणीय है और उसमें रचित हिंदी का प्रचुर साहित्य, जो हमारी एक दीर्घकालीन संस्कृति, सभ्यता और विचार-राशि को अपने में समेटे हुए है, उसमें कुछ नहीं है, यह कहना अविवेक का प्रकाशन है। वास्तव में जो अपने साहित्य का आनुक्रमिक गंभीर अध्ययन नहीं करता, वह साहित्यिकमानी भले हो, साहित्यिक नहीं है।

स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' वास्तव में 'काव्य-शास्त्राद्यवेक्षणाभ्यास-' विदग्ध प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। कवि-प्रतिभा कभी भी उपेक्षणीय नहीं होती; सहृदय-मधुव्रत काव्य-कुसुम की उपेक्षा नहीं कर सकते। हाँ, उसका प्राकृत होना आवश्यक है। कागज-कुसुम चाहे कितना ही आधुनिक क्यों न हो, मधुव्रतों को वह अपनी ओर आकृष्ट करने में अक्षम ही सिद्ध होगा। हम देखते हैं कि जिस प्रतिपाद्य विषय को लेकर व्रज-भाषा की भर्त्सना की गई, उसी का इधर प्राचुर्य हो गया है, भावनाएँ शाश्वत जो हैं।

प्रस्तुत पुस्तक को प्रस्तुत कर लेखिका ने अपने प्रशंसनीय साहित्य-प्रेम का परिचय दिया है। उनका यह प्रथम प्रयास श्लाघ्य है। 'रत्नाकर' जी के प्रामाणिक जीवन-वृत्त को उपस्थित करने के साथ ही उनके काव्यगत वैशिष्ट्य की भी बड़ी तत्परता से छान-बीन की गई है। रत्नाकर जी के काव्य की पृष्ठभूमि और पार्श्व-भूमि को भी सावधानी से प्रस्तुत किया गया है, इनके बीच आलोच्य कवि एवं काव्य का स्वरूप विशेष रूप से निखर और उभर आया है। लेखिका ने बड़ी आत्मीयता और सहृदयता से रत्नाकर-काव्य पर विचार किया है। मुझे विश्वास है कि रत्नाकर जी के काव्य का अध्ययन करनेवालों के लिए इस ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिलेगी और रत्नाकर जी पर लिखी गई पूर्ववर्ती आलोचनाओं से कुछ मानो में नूतन सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी।

वैद्यनाथ-धाम, कमच्छा,
वाराणसी। }

लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'
कार्तिक शुक्ला ११, सं० २०१३

आधुनिक व्रजकाव्य-परम्परा

हिंदी-साहित्य के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही व्रजभाषा का विशेष महत्व रहा है। पिंगल एवं डिंगल भी व्रजभाषा के निकट की भाषाएँ हैं। भक्तिकाल में कृष्णभक्ति शाखा के प्रायः सभी कवि तथा रामभक्ति शाखा के कुछ कवियों ने व्रजभाषा को ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम होने का श्रेय दिया। रीतिकाल में भी पद्य की विशेष भाषा व्रज ही रही।

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव खड़ी बोली में हुआ। भारतेंदु युग में काव्य की भाषा प्रायः व्रज ही रही यद्यपि खड़ी बोली में पद्य-रचना का अभ्यास होना आरम्भ हो चुका था। द्विवेदी जी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करते ही खड़ी बोली का ही सर्वत्र राज्य हो गया तथा उसने काव्य-क्षेत्र पर भी अधिकार जमा लिया। किंतु फिर भी व्रजभाषा के माधुर्य एवं लालित्य में अब भी पर्याप्त आकर्षण था। व्रज-काव्य-धारा मंद अवश्य पड़ गई किंतु एकदम रुक न गई। अब तक भी उसको विशेष मान प्राप्त था तथा व्रज में काव्य-रचना गौरव की वस्तु थी। व्रजभाषा के अनेक श्रेष्ठतम ग्रंथ इसी युग की देन हैं। रत्नाकर जी के उद्धव शतक को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का 'बुद्ध-चरित', 'वियोगी हरि' की 'वीर सतसई', अयोध्या के रामनाथ-ज्योतिषी का रामचंद्रोदय, रायकृष्ण दास की 'व्रजरज' आधुनिक काल की ही रचनाएँ हैं। कुछ संस्कृत, अंग्रेजी की पुस्तकों के सफल अनुवाद भी हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय जी का 'रसकलस' उल्लेखनीय है। प्रत्यक्ष है कि व्रज-काव्य-परम्परा का भी आधुनिक युग में पर्याप्त मान था।

रत्नाकर जी के रचना-काल का प्रथम भाग भारतेंदु तथा द्वितीय भाग द्विवेदी युग से सम्बंधित है। उनके सम-सामयिक व्रज–कवियों में प्रधान रूप से पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्री श्यामविहारी मिश्र, श्री सुखदेव विहारी मिश्र, श्री सत्यनारायण 'कवि-रत्न' तथा 'वियोगी हरि' जी आते हैं। इनके अतिरिक्त लाला सीताराम, श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण तथा आचार्य रामचंद शुक्ल की व्रज-रचनाएँ प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

———

रत्नाकर जी का वंश-वृक्ष

---
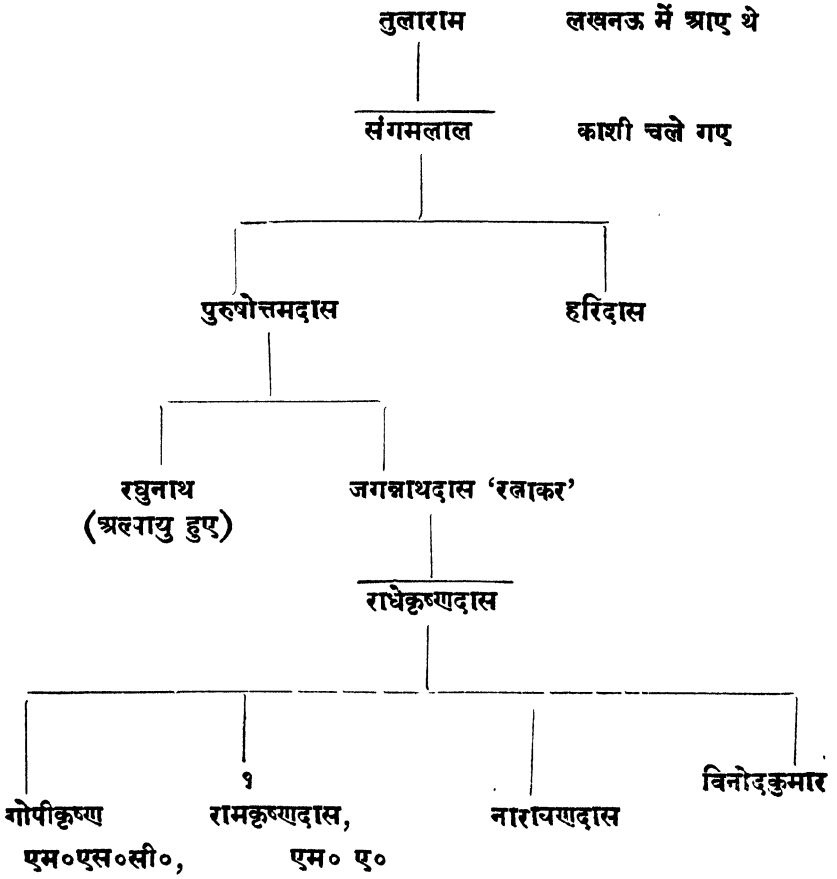
१. रत्नाकर जी के पौत्र श्री रामकृष्णदास, एम० ए० द्वारा प्राप्त।

अनुक्रमणिका

———

ब्रज-काव्य परम्परा

ब्रजभाषा का संबंध प्राचीनतम आर्य भाषाओं से है। आर्य-सभ्यता के विस्तार के साथ ही विभिन्न प्रांतों की बोलियों में अन्तर होने लगा। फलतः भाषा के तीन केंद्र तथा तीन प्रकार—(१) शौरसेनी (२) मागधी (३) पैशाची बन गए।

शौरसेनी का विस्तार उत्तर में हिमालय की तराई, दक्षिण में मध्यप्रदेश, पूर्व में प्रयाग तथा पश्चिम में दिल्ली तक था। शौरसेनी के पूर्व में मागधी का विस्तार था और शौरसेनी के पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर में पैशाची का विस्तार था। इन प्रांतों की बोलियों में पर्याप्त भेद था, अतः प्रत्येक प्रांत में एक साधारण जनता की बोली तथा एक साहित्यिक भाषा बन गई। ये साहित्यिक भाषाएँ अपने-अपने स्थान के नाम से शौरसेनी-प्राकृत, मागधी-प्राकृत तथा पैशाची-प्राकृत कहलाईं। साहित्यिक रचनाओं को सर्वव्यापी बनाने के ध्येय से महाराष्ट्री प्राकृत का निर्माण हुआ। अधिक विस्तार एवं केंद्रों के बीच में होने के कारण शौरसेनी की ही प्रधानता रही।

शनैः शनैः साहित्यिक भाषा जनसाधारण के लिए कठिन होती गई। अतः बोलियों में ही साहित्यिक रचना आरम्भ हो गई। परिणाम-स्वरूप जिस प्रकार तीन प्राकृत भाषाएँ बनी थीं उसी प्रकार तीन नवीन प्रादेशिक भाषाएँ बन गईं। ये भाषाएँ व्याकरण से च्युत थीं अतः अपभ्रंश कहलाईं। पुनः रचनाएँ सर्वव्यापी हो सकें, इस ध्येय से तीनों अपभ्रंश से मिलकर एक राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश बनी। इसमें भी शौरसेनी (नागर अपभ्रंश) की ही प्रधानता रही।

जब अपभ्रंश भी जनसाधारण से दूर पहुँच गई तब फिर एक-एक प्रादेशिक भाषा तथा एक सर्वव्यापी राष्ट्रीय साहित्यिक भाषा बनी। यह भाषा ६ भाषाओं, संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय साहित्यिक अपभ्रंश तथा तीनों अपभ्रंश, से मिलकर बनी, इसलिए षट्भाषा कहलाई। षट्भाषा में भी शौरसेनी का ही प्राधान्य रहा।

लोकप्रियता चाहने वाले कवि षट्भाषा में ही काव्य-रचना करते थे तथा उनके प्रांतों के अनुसार (उनकी भाषा में) विशेषता आ जाती थी। शूरसेन-प्रदेश में अधिक काव्य-रचना हुई। अतः षट्भाषा ने साहित्यिक शौरसेनी का रूप धारण कर लिया। कालान्तर में व्रज में अधिकतम रचनाएँ हुईं और साहित्यिक शौरसेनी में व्रज के शब्दों एवं रूपों का बाहुल्य हो गया। इस प्रकार यह साहित्यिक भाषा ही मुख्य भाषा बन गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ से ही व्रजभाषा के आदि रूप को ही सर्वदा सर्वप्रथम स्थान प्राप्त रहा तथा मँजते रहने के कारण इसका रूप निखर आया।

हिंदी-साहित्य के आदिकाल में डिंगल एवं पिंगल भाषा की रचानाएँ व्रज के ही निकट की थीं और इनमें व्रज का ही महत्त्व रहा।

इसकी व्यापकता सं० १५८७ विक्रमी से बढ़ गई जब श्री वल्लभाचार्यजी का देहान्त हुआ और गोवर्द्धन-पर्वत-स्थित श्रीनाथ के मंदिर में भजन एवं संकीर्तन का उत्तरदानीत्व सूर के ऊपर पड़ा। १६ वीं शताब्दी इस भाषा का स्वर्णयुग माना जा सकता है। धार्मिक आश्रय के साथ ही इसे मुगलकाल में राजाश्रय भी प्राप्त हुआ और व्रजभाषा का काव्यक्षेत्र में प्रायः एकच्छत्र राज्य हो गया। यद्यपि इस समय इसका स्वरूप अव्यवस्थित था। इस युग में अवधी में भी रचनाएँ होती रहीं, किन्तु इसमें तुलसीकृत-रामचरित-मानस तथा जायसीकृत-पद्मावत ये दो कृतियाँ ही प्रधान हैं।

भक्तिकाल में कृष्ण के उपासक सभी कवियों ने स्वभावतः व्रज को ही अपनी काव्य-भाषा का श्रेय दिया तथा राम-भक्ति शाखा के भी पर्याप्त कवियों ने व्रज में ही रचनाएँ कीं। शास्त्राचार्य होने के कारण केशव ने भाषा को परिमार्जित बनाने का प्रयास किया।

रीति-काल में भी प्रायः सभी कवियों ने व्रज को ही अपनाया। विहारी ने साहित्यिक व्रजभाषा के सुश्रृंखल रूप का दृढ़ ढाँचा स्थिर कर श्रमपूर्वक उसी के अनुसार शब्दों का प्रयोग किया। किंतु अन्य-कवि पुरानी परिपाटी के अनुसार ही रचना करते रहे जिससे उनकी व्रजभाषा शिथिल ही रही। विहारी के पश्चात् आनंदघन जी ने शुद्ध एवं सभ्य सम्पन्न भाषा का प्रयोग किया।

आधुनिक युग में भारतेंदु युग के प्रायः सभी कवियों ने व्रजभाषा को ही अपनी काव्य-भाषा बनाया। यद्यपि इसी युग से गद्य के साथ पद्य-रचना भी खड़ी बोली में करने का प्रयास आरम्भ हो चुका था।

आधुनिक युग में 'ब्रज-काव्य-परम्परा' में निम्नलिखित कवि हैं:—सेवक, महाराज रघुराज सिंह रीवां नरेश, सरदार, बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही', ललितकिशोरी, ललित माधुरी, राजा लक्ष्मण सिंह, लछिराम, गोविंद गिल्लाभाई, लाला सीताराम बी० ए०, नवनीत चौबे, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, रामकृष्ण दास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद पूर्ण, रावराजा श्यामबिहारी मिश्र, रायबहादुर सुखदेव बिहारी मिश्र, पं० सत्यनारायण 'कविरत्न', वियोगी हरि, दुलारेलाल भार्गव, रामनाथ ज्योतिषी, लाला भगवानदीन, नाथूराम शंकर शर्मा तथा पं० गया प्रसाद शुक्ल सनेही आदि।

इनमें कुछ का क्षेत्र विशेष रूप से खड़ी बोली में आता है किन्तु इनके ब्रजकाव्य का भी हिंदी साहित्य में कम महत्व नहीं। उपर्युक्त कवियों का कुछ संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे देना उचित होगा, यद्यपि ब्रजकाव्य की दृष्टि से रत्नाकर ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होते हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

'हरिऔध' जी का जन्म वैशाख कृष्ण ३ सं० १९२२ वि० (सन् १८६५ ई०) में तमसा नदी के किनारे निजामाबाद में हुआ। इनके पूर्वज बदायूँ के रहने वाले थे, किन्तु बाद में आजमगढ़ के पास निजामाबाद में आकर रहने लगे। इनके पिता का नाम पं० भोलासिंह जी उपाध्याय था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका वंश-परम्परागत व्यवसाय पंडिताई एवं जमींदारी था।

५ वर्ष की अवस्था में हरिऔध जी के चाचा ब्रह्मासिंह जी ने इनकी शिक्षा घर पर ही आरम्भ की। ७ वर्ष की अवस्था में ये निजामाबाद की तहसीली पाठशाला में प्रविष्ट हुए। सं० १९३६ वि० (सन् १८७९ ई०) में आपने मिडिल परीक्षा पास की। इन्हें वजीफा भी मिलने लगा। अंगरेजी पढ़ने के लिए ये फिर बनारस क्वींस कालेज में प्रविष्ट हुए परन्तु कुछ ही दिनों बाद अस्वस्थता के कारण इन्हें पढ़ाई को तिलाञ्जलि देकर घर लौटना पड़ा। इसके बाद चार-पाँच वर्ष तक घर पर ही उर्दू-फारसी एवं संस्कृत का अध्ययन करते रहे। सं० १९३९ (सन् १८८२ ई०) में आपका विवाह भी हो गया।

सं० १९४१ वि० (सन् १८८९ ई०) में कानूनगोई की परीक्षा पास कर कानूनगो नियुक्त हुए तथा ३४ वर्ष तक निरंतर कार्य करते रहे। इस पद से

शीघ्र ही इन्हें रजिस्ट्रार-कानूनगो, सद्र-नायब कानूनगो और गिरदावर कानूनगो के पद पर पदोन्नतियाँ प्राप्त होती गईं। सन् १९२३ ई० से आप काशी' विश्व-विद्यालय में प्राध्यापक के रूप में अध्यापन करते रहे। अन्त में वहाँ से भी अवकाश प्राप्त कर लिया। ६ मार्च १९४७ ई० को आपने इस नश्वर शरीर को त्यागकर चिर-विश्राम प्राप्त किया। निस्संदेह इनके निधन से हिंदी-साहित्य ने एक अमूल्य निधि खो दी। आपने कई बार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन तथा हिंदी-साहित्य-सभाओं की अध्यक्षता की।

यद्यपि ये प्राचीन संस्कृति के पोषक थे तथापि नवीन विचार-उदाहरणार्थ विलायत-यात्रा, बाल-विधवा विवाह, अछूतोद्धार आदि समाज-सुधारों का पक्ष लेते थे। आजमगढ़ की संस्कृत पाठशाला एवं सनातन-धर्म-सभा के संचालकों में भी यह प्रमुख थे। ये बँगला के भी अच्छे ज्ञाता थे। खड्गविलास-प्रेस के मालिक बाबू रामदीन-सिंह से आपकी बड़ी मित्रता थी तथा इनके अनेक ग्रंथ इसी प्रेस से प्रकाशित हुए। इनकी कृतियाँ लगभग ५० हैं। इनमें नाटक, उपन्यास, निबंध, काव्य तथा नीति आदि विषयों के ग्रन्थ हैं। काव्य-ग्रन्थ ही सबसे अधिक हैं। व्रजभाषा काव्य में 'रसकलस' प्रधान है।

इनकी प्रसिद्धि खड़ी बोली-क्षेत्र में अधिक हो जाने के कारण इनकी व्रज-काव्य में कम ख्याति हुई। खड़ी बोली में 'प्रियप्रवास' एक अनुपम एवं अमूल्य ग्रन्थ है। प्रथम इन्होंने व्रजभाषा से ही साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था। निजामाबाद में सिक्खों के महंत बाबा सुमेरसिंह जी ने एक कवि-समाज स्थापित किया था। इससे ही इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई। ये अपनी रचनाएँ इसी कवि-समाज में पढ़ा करते थे। इस समय ही इनका उपनाम 'हरिऔध' इनके नाम के अनुवाद-भाव से पड़ा था। इनकी व्रज की कविताएँ समय-समय पर पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं।

'रसकलस' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अब तक रस की विवेचना करते समय प्रायः लोग केवल शृंगार रस का ही विस्तृत वर्णन करते थे तथा अन्य रसों पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। रसकलस में हरिऔध जी ने सभी रसों को समान स्थान प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ही सर्वप्रथम रस की विवेचना इस ग्रन्थ में गद्य के माध्यम से की। प्राचीन-नायिकाओं के अतिरिक्त कुछ नवीन नायिकाओं का भी वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, जो नवीन युग के अनुकूल है—उदाहरणार्थ, परिवार-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका, देश-प्रेमिका आदि।

इनकी शैली पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि इनकी कोई विशिष्ट शैली नहीं है वरन् कई प्रकार की शैलियों पर आपका समान अधिकार है। हिन्दी में संस्कृत छन्दों का प्रयोग आपने सफलतापूर्वक किया है, जिससे हिन्दी में नवीनता आ गई है। कहीं-कहीं मुहावरों का तो प्रयोग पर्याप्त रूप में किया है, जिससे शैली में स्वाभाविकता तथा चमत्कार की उत्पत्ति हुई है। शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'वेनिस का बाँका' नाम से संस्कृतमय शैली में है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की शैली संस्कृतमय शैली के बिलकुल विपरीत है। नवीन उक्तियाँ देने में ये पूर्ण समर्थ हैं। मौलिकता पर इनका विशेष ध्यान रहता है। कवि परिपाटी में आई हुई उक्तियाँ इन्हें प्राचीन प्रतीत होती थीं।

शैली के ही समान इनकी भाषा भी विशिष्ट नहीं है वरन् शैली के अनुसार भाषा बदल जाती है। प्रत्येक प्रकार की भाषा लिखने में यह सिद्धहस्त हैं। शब्दों का प्रकाण्ड कोष इनके पास था तथा व्रज एवं खड़ी बोली पर समान अधिकार प्राप्त था।

रत्नाकर के उपरान्त आधुनिक व्रजभाषा-काव्य में आपको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'वियोगी हरि' का स्थान भी इनके उपरान्त ही माना गया है। हिन्दी-साहित्य में आपका गौरवपूर्ण स्थान है तथा आपकी प्रसिद्धि हिन्दी-साहित्य के साथ ही अमर है।

रावराजा रायबहादुर डाक्टर श्यामविहारी मिश्र एम० ए०, डी० लिट्०

रावराजा डा० श्यामविहारी मिश्र जी का जन्म १२ अगस्त सन् १८७३ ई० में कान्यकुब्ज ब्राह्मण के प्रतिष्ठित वंश में इटौंजा (जिला लखनऊ) में हुआ था। आपके पूर्वजों में प्रसिद्ध एवं सम्मानित साहित्यिक तथा विद्वान् श्री चिंतामणि मिश्र एवं श्री सांवले कृष्ण मिश्र जी आदि हुए।

आप चार भाई थे। इनके अतिरिक्त श्री शिवविहारी लाल मिश्र, श्री गणेश विहारी मिश्र तथा श्री सुखदेव विहारी मिश्र थे। श्री शिवविहारीलाल मिश्र के अतिरिक्त अन्य तीनों भाई मिलकर साहित्य-चर्चा एवं साहित्य-रचना स्वान्तः सुखाय करते थे। रायबहादुर सुखदेव विहारी मिश्र हिंदी के विद्वानों में से थे। ये 'मिश्र-बन्धु' नाम से हिंदी-साहित्य में विख्यात हैं।

७ वर्ष की अवस्था में इनके पिता श्री बालदत्त जी मिश्र ने इनकी शिक्षा प्रारम्भ करवाई। फिर प्राइमरी स्कूल भी जाने लगे तथा घर पर मौलवी साहब से उर्दू का अध्ययन भी आरम्भ हो गया। इन्होंने दो वर्ष तक चर्चमिशन

हाईस्कूल, बस्ती में भी शिक्षा प्राप्त की। फिर अपने बड़े भाई के पास सन् १८८६ ई० में पढ़ने के लिए लखनऊ आ गए। सन् १८९१ ई० में जुबली हाईस्कूल से एन्ट्रेंस की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद कैनिंग कालेज से सन् १८९३ ई० में इण्टरमीडिएट, सन् सन् १८९५ ई० में बी० ए० तथा १८९७ ई० में एम० ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया तथा प्रिंसिपल द्वारा डिप्टी-कलेक्टर चुने गए।

डिप्टी-कलेक्टर, कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा कई रियासतों के दीवान तथा सेक्रेटरी आदि प्रतिष्ठित पदों पर इन्होंने कार्य किया। सरकारी पदों पर रह प्रायः समस्त भारत का भ्रमण कर आपने जीवन में विभिन्न अनुभव प्राप्त किये तथा सरकार का ध्यान विभिन्न सुधारों की ओर आकृष्ट किया।

सन् १९२४ ई० से १९२८ ई० तक कौंसिल ऑफ स्टेट के आनरेबुल मेम्बर रहे तथा सन् १९२८ ई० में रायबहादुर की पदवी प्राप्त की। अब तक रावराजा पदवी केवल राजपुत्रों को प्राप्त हुई थी किन्तु सन् १९३३ ई० में सवाई महाराजा ओरछा ने आपको इस पद से भी सुशोभित किया। सन् १९३७ ई० में इनकी साहित्य-सेवा एवं विद्वत्ता के कारण प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की आनरेरी उपाधि प्रदान की।

आप उच्च कक्षाओं के परीक्षक एवं विश्वविद्यालयों की सीनेट के मेम्बर भी रहे। इनकी समाज-सेवा भी प्रशंसनीय है। ग्वालियर अधिवेशन में अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन के यह अध्यक्ष भी रहे। इन्होंने सन् १९४७ ई० में चिर-विश्राम लिया।

स्वाध्याय एवं पारिवारिक साहित्य वातावरण के कारण ही आप हिन्दी के विद्वान् हुए थे। इन्हें अपने बहनोई श्री विशाल कवि से काव्य-रचना की प्रेरणा मिली थी। ब्रजभाषा में मिश्रबन्धु द्वारा छन्दों की रचनाएँ हुईं। मिश्र-बन्धु द्वारा लगभग ३२ ग्रन्थ सम्पादित एवं रचे हुए हैं। 'मिश्र-बन्धु-विनोद' का हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान है। इसी के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहास लिखे गए।

रायबहादुर पंडित सुखदेव विहारी मिश्र बी० ए०

पं सुखदेव विहारी मिश्र जी का जन्म इटौंजा (जिला लखनऊ) में सन् १८७८ ई० में हुआ था। आपके पूर्वजों का वर्णन श्री रावराजा श्याम-विहारी मिश्र जी की जीवन में दिया जा चुका है।

आपकी शिक्षा गाँव के स्कूल से आरम्भ हुई। स्कूल में उर्दू तथा घर पर हिन्दी एवं अंगरेजी की शिक्षा प्राप्त हुई। फिर यह भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के

पास पढ़ने के लिए लखनऊ आ गए। सन् १८६३ ई० में इन्होंने जुबली हाई-स्कूल से मिडिल उच्च-श्रेणी में उत्तीर्ण किया जिससे इन्हें वजीफा भी प्राप्त होने लगा। हाई-स्कूल तथा एफ० ए० में भी आपने प्रथम श्रेणी ही प्राप्त की। सन् १८६६ ई० में कैनिंग कालेज में बी० ए० में सर्व प्रथम आए और इन्हें तीन स्वर्ण पदक प्राप्त हुए। सन् १६०१ ई० में आपने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की, ५ वर्ष तक इन्होंने वकालत भी की, किन्तु यह कार्य इन्हें विशेष रुचिकर न हुआ।

श्री श्यामविहारी मिश्र जी की ही भाँति इन पर भी अपने बहनोई श्री भैरव प्रसाद बाजपेयी विशाल कवि का प्रभाव पड़ा। श्री साधुराज एवं व्रज-राज से भी आपने साहित्य-ज्ञान प्राप्त किया था। सन् १६०८ ई० में आपने मुन्सिफी की। यह पहले खान-पान में कट्टर थे किन्तु बाद में वह कट्टरता शिथिल हो गई।

आपने भारत भ्रमण किया तथा काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य का भी आनन्द उठाया। सन् १६३० ई० में स्वास्थ्य-लाभ के लिए योरप-भ्रमण (इटली, आस्ट्रिया, जर्मनी, हालैण्ड, इंगलैण्ड, फ्रांस और स्विटजरलैण्ड) भी किया।

सन् १६१३ ई० में सीतापुर में होनेवाले कान्यकुब्ज कान्फ्रेंस के ये अध्यक्ष रहे थे। रायबरेली में जज के पद पर तथा छतरपुर राज्य में दीवान के पद पर आपने कार्य किया। सन् १६२७ ई० में आपको रायबहादुर की उपाधि प्राप्त हुई। सन् १६३१ ई० में इन्होंने पेंशन प्राप्त कर ली थी। लखनऊ एवं प्रयाग विश्वविद्यालय के सेनेट के मेंबर भी रह चुके थे। स्वास्थ्य की ओर इनका विशेष ध्यान रहता था। साथ ही राजनैतिक एवं सामाजिक कार्य में भी भाग लेते थे।

'मिश्र-बन्धु' द्वारा सम्पादित एवं लिखित ग्रन्थों का उल्लेख श्री श्याम-विहारी मिश्र जी की जीवनी में हो चुका है। इन्होंने अपने भतीजे श्री प्रतापनारायण मिश्र जी के साथ कवि-कुल-कंठाभरण की टीका एवं साहित्य-पारिजात का प्रथम खण्ड लिखा था। पटना विश्वविद्यालय में इनके द्वारा 'भारतीय इतिहास पर हिंदी-साहित्य का प्रभाव' विषय पर व्याख्यानमाला दी गई भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

आपका देहावसान सन् १६५१ ई० में हुआ। स्वान्तःसुखाय साहित्य-रचना होने पर भी इनकी हिन्दी साहित्य-सेवा प्रशंसनीय है।

पं सत्यनारायण 'कविरत्न'

'कविरत्न' जी का जन्म माघ शुक्ल १३ सोमवार सं० १९३६ वि० (सन् १८८० ई०) को सराय नामक ग्राम में हुआ था। इनकी माता तलफो एक विदुषी स्त्री थीं। अपने वैधव्य जीवन के कारण जीवन-निर्वाह के लिए उन्होंने जारखी, कोटला आदि स्थानों में अध्यापन का कार्य भी किया। फिर वे ताजगंज में कन्याओं को पढ़ाती रहीं। सौभाग्य से कविरत्न जी को बाबा रघुबरदासजी का आश्रय मिला था। उनके पास सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें थीं; जिनमें प्राचीन हिन्दी काव्य ग्रन्थ भी थे; इनका लाभ कविरत्न जी ने उठाया।

बाल्यावस्था में ये धाँधूपुर ग्राम की धूल में जाट बालकों के साथ खेला करते थे। ग्रामीण जीवन से इनका प्रेम जीवन-पर्यन्त बना रहा। समय-समय पर शहर में इन्हें इस ग्रामीणता एवं ग्रामीण वेशभूषा का परिणाम भी भोगना पड़ा था।

सन् १८९० ई० के लगभग इन्होंने आगरे में सारस्वत पढ़ना आरम्भ किया, फिर विधिपूर्वक इनकी शिक्षा धाँधूपुर में आरम्भ हुई। सर्वप्रथम ये ताजगंज के मदरसे में पढ़ते थे। वहीं इन्हें अँगरेजी पढ़ने का भी अवसर मिला। ताजगंज के कवि खत्री तन्नूसिंह जी से इन्होंने काव्य-रचना सीखी। छात्रवृत्ति परीक्षा उत्तीर्ण कर वे मिढ़ाखुर के टाउनस्कूल में प्रविष्ट हुए। यहाँ कुन्दनलालजी द्वारा इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। इतिहास, भूगोल आदि याद करने के लिए भी ये काव्य रच लेते थे। तभी से यह समस्यापूर्ति भी करने लगे। इन दिनों इनकी रुचि शृंगार-रस की ओर थी; किंतु बाबाजी के डाँट के बाद कुछ दिनों के लिए शृंगार रस की रचनाएँ नहीं कीं। सन् १८९६ ई० में इन्होंने सेकेण्ड डिवीज़न में हिन्दी मिडिल उत्तीर्ण किया। सन् १८९८ ई० लोअर मिडिल उत्तीर्ण किया तथा दिसम्बर १९०० ई० में सेंटजोन्स कालेजिएट हाईस्कूल से एन्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण की। १९०८ ई० में एफ. ए. में सेकेण्ड डिवीजन में उत्तीर्ण हुए। सन् १९१० में बी० ए० परीक्षा में सम्मिलित हुए पर अनुत्तीर्ण हुए। १९०९-१० ई० में कानून भी पढ़ा था।

तत्कालीन धार्मिक तथा राजनीतिक प्रभाव सत्यनारायणजी के ऊपर पड़ता रहा। सन् १९०४ ई० में धार्मिकता तथा १९०५ ई० से उनके काव्य में देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता का आधिक्य लक्षित होता है। सन् १९०० ई० में इन्होंने 'दयानन्द-मद-मर्दन' पुस्तक भी लिखी थी।

स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यानों से ये विशेष रूप से प्रभावित हुए थे तथा वे इन्हें अमेरिका ले जाना चाह रहे थे किंतु ये बाबा रघुबरदासजी को छोड़कर न जा सके। सन् १९१२ ई० में बाबाजी की मृत्यु ने इन्हें और दुखी बना दिया।

बालमुकुंद गुप्त जी ने इनकी प्रतिभा पहचानी थी। पं० महावीरप्रसाद-द्विवेदी जी से सन् १९०३ ई० में आपका परिचय हुआ। श्रीधर पाठक के काव्य के ये प्रेमी थे। १९०५ ई० में इनके द्वारा लिखा मोटो 'स्वदेश बांधव' पत्रिका के ऊपर छपता रहा, बाद में वे इस पत्र के पद्य-विभाग में सम्पादक हो गए। चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्माजी द्वारा प्रकाशित 'राघवेंद्र' पत्रिका में इनकी कविताएँ प्रायः छपती थीं।

सेंट-जोंस कालेज में जब कोई उत्सव अथवा अध्यापक की बिदाई होती थी तो अभिनंदन-पत्र आदि लिखना आपका ही कार्य होता था। संक्षेपतः विद्यार्थी-जीवन से ही इनकी काव्य-प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। एफ. ए. की परीक्षा के दिन वे वर्षा-ऋतु के प्रकृति-सौन्दर्य पर मुग्ध हो काव्य-रचना में रत थे। वे प्रायः किताबों के कोने पर ही पद्य-रचना कर अपने विचार प्रकट करते जाते थे। रत्नाकर जी के 'समालोचनादर्श' काव्य पर भी पद्य-रचना की थी। सन् १९१२ से १९१४ ई० में ये श्वास की बीमारी से पीड़ित रहे किंतु एक वृद्ध की साधारण दवा से इन्हें आराम हो गया।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के द्वितीय, पंचम तथा अष्टम अधिवेशन में ये सम्मिलित हुए थे और अपने कविता-पाठ से जनता को मुग्ध किया था। आगरा प्रांतीय-सम्मेलन की स्वागत-कारिणी-समिति के यह सभापति भी रहे।

शिथिल स्वास्थ्य के कारण अत्यधिक द्विविधा के बाद विवाह करना स्वीकार किया तथा ७ फरवरी १९१६ ई० को, ज्वालापुर (हरिद्वार) जिला सहारनपुर के मुकुन्दराम जी की कन्या सावित्री देवी के साथ इनका विवाह सम्पन्न हुआ। इनका पारिवारिक-जीवन अत्यधिक दुःखपूर्ण रहा। विवाह के दो मास बाद ही पत्नी जी अपनी सहेली के यहाँ चली गई थीं। इनकी मृत्यु के कुछ एक दिन पहले यह ज्वालापुर से आई थीं।

८ जुलाई १९१६ के प्रार्थना-पत्र पर १ अगस्त सन् १९१६ ई० को वे आगरा ब्राह्मण-स्कूल में सहायक-अध्यापक नियुक्त हुए।

१६ अप्रैल १९१८ ई० को एक दिन की अस्वस्थता में ही इनकी असमय मृत्यु हो गई। अंगरेजी के पर्याप्त अध्ययन करने पर भी इनका जीवन अकृत्रिम

सरल एवं सादगी से पूर्ण तथा आदर्श था। वृन्दावनी मिर्जई, दुपल्ली टोपी तथा गले में अँगौछा इनकी ग्रामीणता के द्योतक थे। बाह्य-सरलता के साथ ही इनका अन्तर भी उतना ही सरल एवं निर्मल था। उनकी रसिकता एवं हास्य-प्रियता इनकी सादगी को और भी सुन्दर बना देती थीं। इन्हें यशेच्छा कभी नहीं रही। इनके काव्य-पठन का ढंग अत्यधिक सुंदर था जिसकी प्रशंसा बहुतों ने की।

इन्होंने उत्तर-रामचरित तथा मालती-माधव नाटकों का संस्कृत से अनुवाद किया और 'होरेशस' का अंगरेजी से ब्रज में अनुवाद किया। इनके फुटकल छंदों का संग्रह 'हृदय-तरंग' है।

इनके अनुवादों की विशेष प्रशंसा हुई। उत्तर-राम-चरित में एक विस्तृत भूमिका भी जोड़ दी गई है। 'कविरत्न' जी का कथन था कि जिसने भवभूति-कृत रचनाएँ नहीं पढ़ीं उसका साहित्याध्ययन व्यर्थ है। इन्होंने भवभूति की आत्मश्लाघा को उचित तथा हृदय की कोमलता-सहृदयता, मन की शुद्धता तथा विद्वत्ता आदि में उन्हें महान् सिद्ध किया गया है। भवभूति का प्रकृति-चित्रण प्रकृति के साक्षात्कार के उपरांत लिखा गया है। कविरत्न भव-भूति के भक्त थे, अतः भवभूति के ही सारे गुण इनके काव्य में भी लक्षित होते हैं।

अनुवाद अनुवाद ही है अतः उसमें मूल का सौन्दर्य खोजना एक बलात् चेष्टा होगी। ये मूल भावों की यथोचित रक्षा करते थे।

इनको 'रत्नाकर' जी ने अपना 'एवजी' कहा था, कारण, जब 'रत्नाकर' जी अयोध्या के राज्य झगड़े में फँसे थे तब सत्यनारायण जी ब्रज-काव्य रचना में लगे थे।

सत्यनारायण जी के लिए काव्य-रचना स्वान्तःसुखाय थी—इसमें आर्थिक या अन्य कोई लक्ष्य नहीं था। ब्रजभाषा में देश-कालोपयोगी सामयिक भाव-सर्वप्रथम केवल इनके ही काव्य में लक्षित होते हैं। केवल भावों में ही नहीं वरन् विषय एवं वर्णन शैली में भी ये सामयिकता लाए हैं।

इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'हृदय तरंग' में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने किया है, जो नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा से प्रकाशित हुआ है। यह नामकरण सत्यनारायण जी का किया हुआ ही है; किंतु इनके काव्यों का संग्रह किसी ने उड़ा दिया था। इसमें 'प्रेमकली', 'भ्रमरदूत' तथा पद्य-प्रबंध भी सम्मिलित हैं। इस संग्रह में उनकी काव्यप्रवृत्तियाँ बहुत कुछ सम्मुख आ गई हैं।

ये ब्रज में रहते थे तथा ठेठ-ब्रजभाषा पर इनका अधिकार था। अतः इनकी भाषा में बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग है। शब्द-चयन करने में ये कुशल थे। इनके काव्य में अलंकार स्वाभाविक रूप में आए हैं तथा इनमें काव्योचित कल्पनाशीलता एवं प्रकृति-प्रेम था। ये रत्नाकर जी के समकालीन कवियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

पं० हरिप्रसाद द्विवेदी 'वियोगी हरि'

वियोगी-हरि जी का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सं० १९५३ वि० (सन् १८९६ ई०) को छत्रपुर राज्य में हुआ। आपके पिता का नाम श्री बलदेव प्रसाद द्विवेदी था। जन्म के ६ मास बाद ही इनके पिता का देहान्त हो गया। अतः इनका पालन-पोषण इनके नाना श्री अच्छेलाल तिवारी जी के द्वारा हुआ।

८ वर्ष की अवस्था में इनकी हिन्दी एवं संस्कृत की शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुई। गोस्वामी तुलसीदास की विनय-पत्रिका एवं श्रीमद्भागवत से इन्हें विशेष प्रेम था। अंगरेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए ये छत्रपुर के हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए तथा सन् १९१५ ई० में मेट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की।

बाल्यावस्था से ही ये गम्भीर प्रकृति के थे। बाल-सुलभ चपलता इनमें न थी। कोलाहल से दूर एकान्त स्थान इन्हें प्रिय था। कदाचित् इसी गम्भीर स्वभाव के कारण ही आपकी रुचि दर्शन-शास्त्र में विशेष हुई। श्री गुलाबराय एम० ए० तथा बाबू भोलानाथ बी० ए० भी इनके साथ ही दर्शन का अध्ययन किया करते थे। आरम्भ में ये अद्वैतवादी थे, किन्तु छत्रपुर की महारानी श्रीमती कमला कुमारी देवी के सम्पर्क में आकर द्वैतवादी बन गए। महारानी का आरम्भ से ही इनके प्रति पुत्रवत् प्रेम था। इनके साथ में कई बार तीर्थ-यात्रा पर गए। पहले इन्होंने उत्तर भारत का तीर्थाटन किया। प्रयाग में इन्हें श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी ने अपने पास रोक लिया। किन्तु पुनः महारानी द्वारा आमंत्रित होने पर यह उनके साथ तीर्थ-यात्रा पर गए और अंत में महारानी के साथ ही दक्षिण के तीर्थ-स्थानों में भी भ्रमण किया। वहाँ से लौटने पर महारानी का देहावसान हो गया जिससे इन्हें बहुत दुःख हुआ और इन्होंने अपना नाम ही 'वियोगी हरि' रख लिया। महारानी के आदेशानुसार ही इन्होंने प्रयाग में त्रिवेणी-तट पर सन्यास ग्रहण कर लिया।

इनके संन्यास का नाम हरितीर्थ है। विवाह करने से इन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया था। आजन्म अविवाहित रहने का व्रत ले लिया।

१८ वर्ष की आयु में ही इन्होंने प्रेमधर्म पर तीन पुस्तकें लिखी थीं। प्रयाग में श्री टंडन जी ने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन पत्रिका के प्रकाशन का भार आपको दिया। चार वर्ष तक यह इस पत्रिका का सम्पादन करते रहे और इसी समय संक्षिप्त सूरसागर का भी सम्पादन किया। बँगला के शुकदेव के ढंग पर इन्होंने भी शुकदेव खण्डकाव्य लिखा है। 'तरंगिणी, नामक एक सुन्दर गद्यकाव्य की रचना भी उसी समय की।

देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना इनमें बहुत गहरी थी। अतः राष्ट्रीय पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। 'वीरसतसई' व्रजभाषा में वीररस का एक सुन्दर ग्रन्थ है। इस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ, किन्तु उदारतावश यह धन उन्होंने सम्मेलन को समर्पित कर दिया।

सन् १९३२ ई० के नवम्बर में आप हरिजन सेवक-संघ में सम्मिलित हुए तथा सन् १९३७ ई० में गांधी-सेवा-संघ के सदस्य भी बने। 'हरिजन-सेवक' पत्रिका के ये सम्पादक नियुक्त हुए तथा सन् १९३८ ई० से यह हरिजन-सेवा में ही तत्पर हैं। दिल्ली की हरिजन बस्ती के ये व्यवस्थापक हैं।

३०-३५ वर्ष से यह फल ही खाकर रहते हैं। सन् १९३४ ई० से आप ने साहित्य-क्षेत्र से अपने को अलग कर लिया है। आपके द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थ प्रायः ४० के ऊपर हैं। व्रजभाषा का इनका प्रसिद्ध काव्य 'वीर-सतसई' है।

'वियोगी-हरि' जी व्रज में ही काव्य-रचना करते रहे, खड़ी बोली का उर्दू-मिश्रित रूप भी इन्हें रुचिकर है। संस्कृत एवं बँगला का भी इनको ज्ञान है। इन्होंने वीर-रस का विस्तृत अर्थ लिया है, केवल वीरता तथा क्रोध से ही वीर रस का संबन्ध नहीं माना है। वीर रस के काव्य की सफलता यह है कि वह पाठक के हृदय में उत्साह का संचार करे। 'वीरसतसई' इस दृष्टि से पूर्णरूपेण सफल रचना है, यद्यपि इन्होंने एक स्थल के अतिरिक्त, कहीं पर भी अपभ्रंश की द्वित्व-वर्णवाली शैली को नहीं अपनाया है। वीर-रस के अतिरिक्त भक्ति, प्रेम एवं विरह विषयक रचनाएँ अच्छी हुई हैं। प्राचीन वैष्णवों के हार्दिक-उद्‌गार के समान ही इनकी भी भक्ति-विषयक रचनाएँ हैं।

इनकी भाषा यद्यपि रत्नाकर जी की तरह शुद्ध एवं परिमार्जित नहीं है तथापि भाषा में माधुर्य एवं प्रवाह है। भाषा का स्वच्छंद प्रयोग है। उसके किसी विशिष्ट रूप को आरम्भ से अंत तक निभाने का प्रयास नहीं है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय के खड़ी बोली क्षेत्र में जाने के बाद आधुनिक व्रज-काव्य-परम्परा में रत्नाकर जी के बाद श्री 'वियोगीहरि' जी का ही नाम विशेष लिया जाता है।

आधुनिक व्रज-काव्य परम्परा में 'रत्नाकर' के समकालीन कवियों में इन कवियों की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं—

लाला सीताराम बी० ए० (सन् १८५८–१९३६ ई०)

लालाजी भक्त तथा साहित्यानुरागी सज्जन थे। इन्होंने संस्कृत के कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसम्भव तथा मेघदूत के पद्यानुवाद तथा अंग्रेजी के शेक्सपियर के कुछ नाटकों का भाषानुवाद किया है। ये अनुवाद सफल एवं शुद्ध हुए हैं तथा लेखक के भाषाधिकार का परिचय देते हैं।

श्रीधर पाठक (सन् १८५९–१९२८ ई०)

यह खड़ी बोली में सर्वप्रथम श्रेष्ठ तथा विस्तृत परिमाण में रचना करने वालों में हैं, किंतु ये व्रजभाषा के भी प्रेमी थे। इन्होंने संस्कृत के ऋतु-संहार तथा अंग्रेजी के गोल्डस्मिथ द्वारा रचित 'डिजर्टेड विलेज' का 'ऊजड़ ग्राम' नाम से पद्यानुवाद किया है। इनकी भाषा ब्रज के पिछले काल की व्रजभाषा है, अन्यथा भाषा परिमार्जित एवं प्रवाहयुक्त है। इन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग अधिक नहीं किया है।

इनमें रूढ़िवादिता न थी। इनके विषय मनुष्य के कार्य-कलापों तक ही सीमित नहीं हैं वरन् प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में भी विचरण करते हैं। समाज-सुधार, देश-प्रेम, मातृभाषा-प्रेम आदि भाव इनके काव्य में हैं।

रायदेवीप्रसाद पूर्ण (सन् १८६८–१९१४ ई०)

कानपुर के 'रसिक-समाज' की राय देवीप्रसाद पूर्ण जी ने पर्याप्त सेवा की। इन्हीं के सत्प्रयास से कानपुर कुछ दिनों तक काव्य-चर्चा का क्षेत्र बना रहा।

इन्होंने भी कालिदास के मेघदूत का 'धारा-धर-धावन' नाम से प्रवाहपूर्ण अनुवाद किया है। इसके पहले राजा लक्ष्मणसिंह एवं ठाकुर जगमोहन सिंह जी के अनुवाद हो चुके थे किंतु उनमें इतनी सरलता एवं प्रवाह नहीं है। आपने चंद्रकला-भानुकुमार नामक नाटक में व्रजभाषा के सुंदर पद्यों की रचना की है।

इनके विषय प्रकृति, ऋतु-वर्णन, शृंगार, भक्ति एवं देशभक्ति से सम्बन्धित हैं। शैली तथा भाषा दोनों पर ही इनका अधिकार है। इसी से इनकी रचनाओं में सरसता आ गई है। इनकी भाषा संयत है। उपमा एवं उत्प्रेक्षा

आदि अलङ्कार यह अपनी ही कल्पना एवं निरीक्षण से काव्य में लाए हैं, वे परम्परा से आए नहीं हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सन् १८८४-१९४० ई०)

यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी का क्षेत्र खड़ी बोली है तथा ये आलोचक के रूप में महान् हैं, तथापि इन्होंने आरम्भ में व्रजभाषा में भी सुंदर रचनाएँ की थीं।

अंग्रेजी के एडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ-एशिया' के आधार पर इन्होंने 'बुद्ध चरित' लिखा। यह हिंदी का एक अनुपम ग्रंथ है। इनकी अपनी ही भावुकता एवं आर्द्रता बुद्ध चरित में परिलक्षित होती है। प्रकृति का सुंदर एवं स्वच्छ रूप आपने हमारे समक्ष उपस्थित किया है। कृत्रिमता न होने के कारण इसमें अलङ्कार भी कम आए हैं। इनकी भाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं प्रवाह-युक्त है।

जीवनी तथा व्यक्तित्व

हिन्दी रीति परम्परा के अन्तिम महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए० के पूर्वज पंजाब के पानीपत जिले में सफीदों (मूल नाम सर्पदमन) नामक ग्राम के निवासी थे और उनका जन्म दिल्लीवाल अग्रवाल वैश्यों के एक परिवार में हुआ था।

यहाँ से यह परिवार दिल्ली आ गया और मुगल दरबार में प्रतिष्ठित पदों पर काम करने लगा, कालान्तर में मुगल वंश का अतःपतन हो गया तथा केन्द्रीय सत्ता दुर्बल होने लगी। प्रान्तीय सरकार प्रबल होने लगी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद का वैभव व्यवसायियों, कलाकारों और साहित्यकारों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल के शब्दों में:—

······दिल्ली आगरे आदि पछाहीं शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठी थीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली छोड़ कर मीर, इन्शा आदि अनेक उर्दू शायर पूर्व की ओर आने लगे उसी प्रकार दिल्ली के आस पास के प्रदेशों की हिन्दू व्यापारिक जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूर्वी जिलों तथा शहरों में फैलने लगीं।[१]

इन्हीं व्यापारिक जातियों में रत्नाकर जी के पूर्वज भी थे जो लखनऊ आकर बस गए। लखनऊ में इनके पर दादा सेठ तुलाराम 'अतुल सम्पत्तिशाली राजमान्य हुए।[२] लाला तुलाराम जहाँदार शाह के दरबार में काम करते थे और लखनऊ के बहुत बड़े रईस माने जाते थे। यह महाजनी का व्यवसाय भी करते थे तथा महाजनों के चौधरी भी थे। बाबू जी ने लिखा है, 'एक बार लखनऊ के एक नवाब साहब ने तुलाराम जी से तीन करोड़ रुपये उधार मांगे थे। इस आज्ञा का पालन करने में और रुपया जुटाने में इनकी सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश चला गया।' यद्यपि इस घटना के कारण इनकी सम्पत्ति का एक बहुत बड़ा अंश चला गया, किन्तु उनके रहन-सहन में अन्तर नहीं आया। एक बार तुलारामजी जहाँदार शाह के साथ काशी आए। कदाचित् उनका मन यहाँ रम गया, अतः वे यहीं रहने लगे।

---

१. पृष्ठ ४०८। पंचम संस्कार। २. Ref.

तुलाराम जी के पुत्र संगमलाल जी हुए। संगमलाल जी ने पिता की सम्पत्ति का सम्वर्धन किया। हरिश्चन्द्र घाट के पार्श्व में डुण्डी घाट तथा कुछ मंदिर भी बनवाये। उसी के निकट शिवालाघाट मुहल्ला के निकट वे निवास करने लगे। संगमलाल जी के दो पुत्र पुरुषोत्तमदास जी तथा हरिदास जी हुए। हरिदास जी अल्पायु हुए अतः उनके वंश में कोई नहीं है।

पुरुषोत्तमदास जी फारसी के मर्मज्ञ थे। उस समय देश में फारसी का ही प्रचार अधिक था। फारसी के पंडित होने पर भी श्री पुरुषोत्तमदास जी हिन्दी-काव्य में अनुरक्ति रखते थे। इन्हें कुरान पूरा याद था तथा हकीमी का भी अच्छा ज्ञान था। साहित्य-प्रेमी एवं सम्पन्न होने के कारण इन्होंने अपने यहाँ एक कमरा कवियों के लिए अलग रख छोड़ा था, जहाँ हिन्दू-मुसलमान दोनों कवियों के लिए सामान रहता था। इनके आज्ञानुसार दुकानदार कवियों को आवश्यकतानुसार सामग्री दे दिया करते थे। बर्तन आदि की भी पूर्ण व्यवस्था इनके यहाँ रहती थी।

पुरुषोत्तमदास जी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के समकालीन थे। यद्यपि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र एवं इनकी आयु में विशेष अंतर था तथापि इनमें घनिष्ठ मित्रता थी। विनोदप्रियता के कारण भारतेंदु बाबू प्रायः छद्मवेश में इनके यहाँ आ जाते थे। एक दिन प्रातःकाल वे भिक्षुक के रूप में आकर एक पैसा माँगने लगे। पैसे इन्हें प्राप्त भी हो रहे थे किंतु वैसे ही वे पहचान लिए गये और लोगों का बड़ा मनोरंजन हुआ। आज भी वह घटना एक कौतूहल का विषय बनी हुई है। भारतेन्दु बाबू उस समय हिंदी का नेतृत्व कर रहे थे भारतेन्दु-मंडल समृद्धिशाली सज्जनों तथा साहित्यकारों को हिन्दी की ओर आकर्षित कर रहा था। वस्तुतः पुरुषोत्तमदास जी भी इस प्रभाव से बचे नहीं थे। उनका घर भी तत्कालीन कविगोष्ठियों तथा साहित्यकारों की अतिथिशाला बना हुआ था।

पुरुषोत्तमदास जी को अपने अनन्य मित्र भारतेन्दु जी की १६ वीं वर्षगाँठ के दिन संवत् १९२३ (सन् १८६६) के भाद्रपद शुक्ल पंचमी[1] को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। यह ऋषिपंचमी व्रत जैनियों तथा पहाड़ियों का विशेष त्योहार होता है। इस दिन स्त्रियाँ दिन भर व्रत पूजन करती हैं। इसी दिन शिशु रत्नाकर का जन्म हुआ। यह बालक भविष्य में कविवर रत्नाकर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

---

१. शुक्ल जी के इतिहास में छठीं लिखा है जो गलत है।

साहित्याभिरुचि तथा प्रतिभा तो इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी, साथ ही इन्हें वांछित वातावरण भी प्राप्त हुआ। श्री पुरुषोत्तमदास जी जब-तब अपने यहाँ साहित्यिक गोष्ठियाँ करवाया करते थे। बाल्यकाल से ही यह शुभ वातावरण इनकी प्रतिभा को विकसित करने में सहायक सिद्ध हुआ।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर की बाल्यावस्था काशी में ही बीती। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर फारसी से प्रारम्भ हुई। १२ वर्ष बाद इन्होंने अंगरेजी पढ़ना आरम्भ किया और बंगाली टोला हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए। प्रारम्भिक कक्षाओं में इन्होंने कई बार एक वर्ष में दो कक्षाएँ पास कीं। कक्षा के प्रथम विद्यार्थी को ही यह सुविधा प्राप्त होती है। अतः स्पष्ट है कि रत्नाकरजी प्रतिभा-शाली छात्र थे। इन्हें प्रारम्भिक कक्षाओं में जो पुस्तकें आदि पुरस्कार-स्वरूप प्राप्त हुई थीं वे अब भी उनके पौत्र श्री रामकृष्ण के पास सुरक्षित हैं। १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् इन्होंने क्वींस कालेज में प्रवेश किया और २२ वर्ष की अवस्था में द्वितीय श्रेणी में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इनके बी० ए० के दो विषय तो अंगरेजी और फारसी थे, तृतीय विषय सम्भवतः दर्शन अथवा इतिहास था। सम्वत् १९४५ (सन् १८८८) में बी० ए० की परीक्षा पास कर लेना बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। फिर प्रायः अमीर घर के बच्चे स्वभावतः विलासी प्रवृत्ति के होते थे, अतः इनका इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेना और भी स्तुत्य प्रतीत होता है। ये कभी अनुत्तीर्ण न हुए थे और प्रारम्भ से ही इनकी रुचि साहित्य की ओर रही। इन्होंने फारसी में एम० ए० की तैयारी की, किन्तु पारिवारिक परिस्थितिवश परीक्षा में सम्मिलित न हो सके। एल० एल० बी० की परीक्षा भी इसी कारणवश न दे सके।

इनका विवाह पटना के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। अतः अब इन्हें गृहस्थी का भी भार उठाना पड़ रहा था। फिर भी साहित्याभिरुचि होने के कारण स्वान्तः सुखाय वे अध्ययन करते ही रहते थे। १९०० ई० के पहले वे "ज़की" उपनाम से फारसी में काव्य-रचना करते थे। इन्होंने लगभग १०० गजलें लिखी थीं जिन्हें बाद में फाड़ डाला। इनके इस विषय के काव्य-गुरु मिर्जा मुहम्मद हसन 'फ़ायज' थे। इनके प्रति रत्नाकर जी के मन में अपार श्रद्धा थी जो अन्त तक उसी मात्रा में विद्यमान रही। इस युग में गुरुभक्ति के ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं। अपनी गुरुभक्ति इन्होंने इस प्रकार प्रकट की है—

फैज फाइज के तलम्मुज का हुआ जब से "जकी"
..........मानी सुखन में जल्वागर रहने लगा।
फैज = शुभ फल। तलम्मुज = शागिर्दी।

किसी के आग्रह पर इन्होंने एक गजल लिखी थी, पर श्रद्धावश बिना गुरु को दिखाए न दे पाए थे। गुरु जी का घर रत्नाकर जी के घर से थोड़ी ही दूर पर था। रत्नाकर जी ने मिलने के लिए समय पुछवाया इस पर वे स्वयं रत्नाकर जी के पास आ गए, जिससे रत्नाकर जी को ग्लानि हुई और इन्होंने उनसे क्षमा-याचना की। एक कारण और भी था कि गुरु पर्याप्त वृद्ध थे और उन्हें आने में कष्ट हुआ था। रत्नाकर जी की गजल में उन्होंने सुधार कर दिए।

सरदार कवि को इनका काव्य-गुरु कहा जाता है इन्होंने स्वयं लिखा है:—

"सरदार कवि को हमने स्वयं अपनी बाल्यावस्था में देखा था।.........
......"काशी के भदैनी मुहल्ले में, हमारे घर से थोड़ी दूर पर, वे रहते थे, और हमारे पूज्य पिता जी के पास प्रायः आया करते थे। हम कभी-कभी उनसे कुछ पढ़ भी लेते थे।"[1]

उनके अतिरिक्त इन्होंने रूपक, हनुमान आदि कवियों के सत्संग से व्रज-भाषा तथा व्रजभाषा काव्य का अध्ययन आरम्भ किया। भारतेन्दु के घर पर ही श्री नवनीत लाल चतुर्वेदी से इनका परिचय हुआ तथा उनके व्यक्तित्व का इन पर अधिक प्रभाव पड़ा। बा० श्यामसुन्दर दास जी तथा श्री कृष्णशंकर शुल्क जी ने इन्हीं को रत्नाकर जी का काव्य-गुरु माना है।[2] श्री अनूप जी ने भी लिखा है कि नवनीत जी रत्नाकर जी को अपना शिष्य मानते थे, किन्तु स्वयं रत्नाकर जी ने सुजान-सागर की भूमिका में नवनीत जी को अपना मित्र लिखा है। गुरु को मित्र कहने की धृष्टता कम से कम रत्नाकर जी न कर सकते थे।[3]

नवनीत जी मथुरा निवासी थे, अतः उनसे पढ़ने का अवसर रत्नाकर जी को सम्भवतः प्राप्त न हुआ होगा। जब आवागढ़ रियासत में वे कोषाध्यक्ष पद पर आसीन थे तब प्रायः वे मथुरा जाते थे और वहां पर श्री नवनीत जी के साथ

---

१. कविवर बिहारी : श्री जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' पृ० २७१।
२. आ० हि० साहित्य का इतिहास : कृष्णशंकर शुल्क, पृ० ६६।
३. सुजान सागर भूमिका। कुछ दिन हुए कि मुझे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा से यह पता लगा कि मेरे एक मित्र काव्य कला पं० श्री नवनीत चौबे मथुरा निवासी उसको पचाये हुए बैठे हैं।

यमुना-तट बैठकर काव्य चर्चा किया करते थे। यहीं पर सैयां जी (जो यद्यपि कविता न करते थे पर साहित्यानुरागी थे) के सत्संग से रत्नाकर जी ने ब्रज की बोलचाल की भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। इसी के फलस्वरूप रत्नाकर जी की भाषा में बोल-चाल की ब्रज-भाषा का पुट आ गया है।

कालेज छोड़ने के उपरान्त लगभग ३०-३२ वर्ष की अवस्था में रत्नाकर जी ने अपनी आजीविका के लिये सर्वप्रथम जरदोजी का कार्य आरम्भ किया। उनकी सतर्कता का उदाहरण इस घटना से स्पष्ट है। एक बार एक दर्जी जरदोजी के काम का एक कोट लेकर कलकत्ते भाग गया और रत्नाकर जी उसका पता लगाते हुए कलकत्ते तक पहुँच गये, जहां अपने मित्र श्री दुर्गाप्रसाद जी की सहायता से उस कोट को प्राप्त किया।[1]

लगभग ३३-३४वर्ष की अवस्था में ये आवागढ़ रियासत में कोषाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुये। पर वहां की जलवायु इनके अनुकूल सिद्ध न हुई, अतः दो ही वर्ष बाद वहां से पुनः यह काशी आ गये।

हिन्दी-साहित्य की ओर इनकी अभिरुचि भारतेन्दु जी के यहाँ की गोष्ठियों से आकर्षित हुई थी। इन कवि-गोष्ठियों में समस्या-पूर्ति हुआ करती थी। अतः इनका भी हिन्दी-साहित्य में प्रवेश समस्या-पूर्ति के साथ ही हुआ और इनका उपनाम 'रत्नाकर' प्रकाश में आने लगा। साथ ही इनके पिता श्रीपुरुषोत्तम-दास जी की काव्य-रुचि के कारण इनके घर पर भी हिन्दी एवं फारसी दोनों भाषाओं के कवियों का ताँता लगा रहता था। बाल्यावस्था से ही ये कवि-सम्मेलनों में जाते थे और बड़े ध्यान से कविताएँ सुना करते थे। इनकी इस दृढ़ अनुरक्ति एवं एकाग्रता पर ध्यान देकर भारतेन्दु जी ने कहा था कि यह बालक भविष्य में महान् कवि होगा। भारतेन्दु जी की इस भविष्यवाणी की महत्ता हमें आज ज्ञात होती है। भारतेन्दु जी इन्हें प्रोत्साहित भी किया करते थे। उस प्रोत्साहन का इनके बाल्य मन पर शुभ एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। फलतः बाल्यावस्था से ही एक महान् कवि बनने की दृढ़ आकांक्षा इनके हृदय में उत्पन्न हो चुकी थी। इसी मार्ग पर ये दृढ़-संकल्प के साथ अग्रसर होने लगे, यद्यपि परिस्थितियों ने इनकी काव्य-रचना की गति में बाधा पहुँचाई पर अवसर पाते ही वह पुनः प्रवाहित होती रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनकी ब्रजभाषा काव्य-रचना १८८९ में प्रारम्भ हुई।[2] पर बीच-बीच

---

१. बनारसी दास चतुर्वेदी : रेखा-चित्र पृ० ११५।

२. हि० सा० का० इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

में प्रायः शृंखला भंग होती रही। आवागढ़ रियासत के कोषाध्यक्ष-पद छोड़ने के उपरान्त इनकी व्रज-काव्य की रचना कुछ दिनों तक अबाध गति से चली। इनकी प्रथम काव्यकृति हिंडोला संवत् १६५१ (सन् १८६४ ई०) में प्रकाशित हुई।

सन् १८६३ ई० में इन्होंने 'साहित्य-सुधानिधि' मासिक पत्रिका भी निकाली, जिसका सम्पादन ये स्वयं एवं बाबू देवकीनन्दन खत्री करते थे। हम्मीर-हठ तथा सुजान-सागर का प्रकाशन इन्हीं के द्वारा हुआ। सन् १८६४ ई० में रत्नाकर जी ने समस्यापूर्ति-संग्रह का प्रथम भाग प्रकाशित किया। साथ ही प्राचीन कवियों की कृतियाँ सर्वसाधारण को सुगम बनाने के लिये ये प्राचीन कवियों का अध्ययन करके उनके ग्रन्थ सम्पादित करते रहे। १८६३ ई० में दूलह-कृत कवि-कुल-कंठाभरण तथा नृप शंभु-कृत नखशिख और १८६४ ई० में कृपाराम-कृत हिततरंगिणी तथा चन्द्रशेखर-कृत हम्मीर-हठ का इन्होंने प्रकाशन कराया।

१६ जुलाई १८६३ ई० में 'निज भाषा उन्नति' के लिये नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई थी। दूसरे वर्ष १७ फरवरी को भारतेन्दु के फुफेरे भाई तथा प्रसिद्ध लेखक बाबू राधाकृष्णदास ने सभा का प्रधान पद स्वीकार किया और आमरण उसकी सेवा करते रहे। इसी वर्ष रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०, बाबू इन्द्रनारायण सिंह एम० ए०, बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, बाबू देवकीनन्दन खत्री, बाबू गदाधर सिंह प्रभृति हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक सभा में सम्मिलित हुए और रत्नाकर जी भी उसी वर्ष उसमें सम्मिलित हुए। नागरी-प्रचारिणी-सभा की सभी योजनाओं में रत्नाकर जी का पूर्ण सहयोग रहता था।

श्री कामता प्रसाद गुरु ने एक व्याकरण बनाया था, जिस पर विचार करने के लिये सभा में एक उप-समिति बनाई गयी थी। उसमें अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के साथ ही आदरपूर्वक श्री रत्नाकर जी का भी नाम था। संशोधन के उपरान्त यह व्याकरण प्रकाशित हुआ। सन् १८६६ ई० में नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। लेखों के चुनाव के लिए एक परीक्षक-समिति बनाई गई, जिसके सदस्य थे, राय बहादुर लक्ष्मी-शंकर मिश्र, बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, बाबू देवकीनन्दन खत्री तथा जगन्नाथदास 'रत्नाकर'। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में जब तब रत्नाकर जी के लेख प्रकाशित हुआ करते थे। १६०० ई० में जब सभा के तत्वावधान

में सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ तब रत्नाकर जी का नाम भी सम्पादकों में था।

१६०२ ई० तक रत्नाकर जी का अध्ययन व्यापक हो चुका था और उनके काव्य में प्रौढ़ता आ चुकी थी। प्राचीन हिन्दी-काव्य के साथ ही साथ रत्नाकर जी संस्कृत-साहित्य एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का भी अध्ययन करते रहे। प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य का भी अध्ययन इन्होंने किया। १८६४ ई० में 'साहित्य सुधानिधि' पत्र में साहित्य-रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड ३) प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृताचार्यों के मतों की संक्षिप्त समीक्षा की गई थी। अन्त में काव्य की परिभाषा भी दी गई थी। उससे रत्नाकर जी के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है। १८६७ ई० में 'घनाक्षरी नियम-रत्नाकर' प्रकाशित हुआ। इसकी रचना श्री १०८ बालकृष्ण जी महाराज कांकरोली द्वारा संस्थापित काशी-कवि-समाज तथा सर्वसाधारण के हितार्थ की गई थी। उससे स्पष्ट है कि रत्नाकर जी ने पिंगल शास्त्र का अध्ययन पर्याप्त मात्रा में किया था। घनाक्षरी पर इनका पूरा अधिकार भी था। इन्होंने जो नियम निर्धारित किये हैं वे अत्यधिक समीचीन हैं। संस्कृत, हिन्दी के साथ ही साथ ये अंगरेजी का भी अध्ययन करते रहे। जिसके फलस्वरूप १८६८ में पोप के 'ऐसेज़ ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद 'समालोचनादर्श' के नाम से नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

रत्नाकर जी का साहित्यिक जीवन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग १६०२ में ही समाप्त हो जाता है। १६०२ ई० में रत्नाकर जी के जीवन का एक नया पृष्ठ खुलता है। पुनः १६२१ में इनके साहित्यिक जीवन का द्वितीय भाग प्रारम्भ होता है।

१६०२ ई० में रत्नाकर जी अयोध्या के राजा प्रतापनारायण सिंह जी के प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में अयोध्या के राजा प्रायः साहित्यानुरागी हुए। कवि द्विजदेव (राना मानसिंह) अयोध्या के ही राजा थे जो रीति काल के अन्तिम श्रेष्ठ कवि हुए हैं। द्विजदेव के भतीजे भुवनेश जी भी प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। सर प्रतापनारायण सिंह जी ददुआ साहब भी हिन्दी के परम अनुरागी थे। महाराना के जीवन पर्यन्त रत्नाकर जी उनके साथ कार्य करते रहे। यहीं से रत्नाकर जी का जीवन और भी अधिक वैभव-पूर्ण हो गया। १६०६ में ददुआ साहब का स्वर्गवास हो गया। पुनः रानी साहिबा ने रत्नाकर जी को अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। इससे ज्ञात होता है कि रत्नाकर जी अपने कार्य में कुशल एवं दक्ष थे। ददुआ साहब

निःसन्तान थे। अतः उत्तराधिकार का झगड़ा उठा। रानी साहिबा ने अपने भाई के पुत्र को गोद ले लिया। किन्तु अयोध्या-नरेश के परिवार के ही एक सज्जन, जिनका नाम त्रिभुवन सिंह था, अपना उत्तराधिकार प्रमाणित करने लगे। इस पर मुकदमा चला। रानी साहिबा की तरफ से सारा कार्य रत्नाकर जी को ही करना पड़ता था। अतः राजवंश के इस झगड़े के कारण रत्नाकर जी इस बीच अधिक व्यस्त रहे जिसके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। यद्यपि रत्नाकर जी की साहित्य के प्रति अगाध रुचि थी और ये जब तब एक-दो छन्द रच भी डालते थे, किन्तु जैसा इन्होंने स्वयं कहा है कि इस काल (१९०२ से १९२१ ई०) में झूठ नारायण कचहरी की सेवा कर रहे थे, अतः सत्यनारायण 'कवि रत्न' जी से कैसे मिलते? सत्य-नारायण जी का रचना-काल यही था, अतः इन्होंने सत्यनारायण जी को अपना 'एवज़ी' कहा है।[1]

इस बीच में जब ये अपने मित्रों से मिलते तो वे इन्हें साहित्य की उपेक्षा के लिये उपालम्भ दिया करते थे। इस पर रत्नाकर जी को भी खेद रहा। अतः इन्होंने बा० श्यामसुन्दर दास जी के आग्रह पर 'बिहारी सतसई' का सम्पादन एवं टीका-कार्य आरम्भ कर दिया, जैसा विहारी-रत्नाकर की भूमिका में इन्होंने लिखा भी है—

"सन् १९१७ ई० के जाड़ों में संयोगवश महीने डेढ़ महीने मुझे लखनऊ में रहना पड़ा। हमारे प्रिय मित्र बा० श्यामसुन्दर दास बी० ए० इस समय वहीं के कालीचरण हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हीं के अनुरोध से कार्य का श्रीगणेश हुआ।"

अतः १९१७ से वे साहित्य-क्षेत्र में पुनः प्रवेश करते हैं। १९१९ में समालोचनादर्श प्रकाशित हुआ।

१९०२ से १९१९ तक यद्यपि उनकी कोई भी कृति हमारे समक्ष उपस्थित न हुई किन्तु निश्चय ही वे जब तब एक-दो छन्दों की रचना कर डालते थे। जब रत्नाकर जी ने पुनः साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय इनकी अवस्था प्रायः ५५ वर्ष की हो चुकी थी। उस समय तक खड़ी बोली का प्रचार बहुत हो चुका था। 'निराला' जी आदि कवि खड़ी बोली में सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। पर रत्नाकर जी की रुचि व्रज-भाषा में ही रही। वे खड़ी-बोली की कविता को 'तालतुकहीन, अंग-भंग छविछीन' समझते थे।

---

१. बनारसीदास चतुर्वेदी, रेखाचित्र, पृष्ठ १२७

सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ी,
विधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
ताल-तुक-हीन अंग-भंग छवि-छीन भई,
कविता बिचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मैं।
नन्ददास देव घनआनँद बिहारी सम,
सुकवि बनावन की तुम्हैं सुधि द्याऊँ मैं।
सुनि 'रतनाकर' की रचना रसीली रंच,
ढीली परी बीनहिं सुरीली करि ल्याऊँ मैं॥

यद्यपि काव्य-रचना रत्नाकर जी के लिये मुख्यतः स्वान्तः सुखाय थी, तथापि इस छंद से ऐसा आभास होता है कि कदाचित् खड़ी बोली की रसहीन कविताओं को देखकर ग्लानिवश कविता विचारी को रसपूर्ण बनाने के हेतु ये काव्य-क्षेत्र में पुनः आए। छंद में उल्लिखित कवि इनके आदर्श हैं जिनके काव्य के समान ये अपनी रचना करना चाहते थे।

रत्नाकर जी के अयोध्यावास के समय चुप रहने के कारण श्री मदनलाल चतुर्वेदी जी ने उन पर आरोप भी किया :—

"रत्नाकर जैसे सुकवि के २०-२२ वर्ष तक चुप रहने में उनकी राज्य-सम्बन्धी झंझटें जितने अंश में कारण हुई होंगी शायद उतने ही अंश में चारों ओर का उपेक्षायुक्त वायुमंडल भी कारण हुआ होगा।"[१]

रत्नाकर जी का ब्रजभाषा पर मोह होना भी स्वाभाविक ही है। कारण, उस पर इनका पूर्ण अधिकार था तथा उसके शुद्ध स्वरूप का निर्धारण इन्होंने पर्याप्त अध्ययन एवं मनन के बाद किया था। अस्तु,

सन् १९१९ ई० में रत्नाकर जी के आग्रह पर ही श्री रामनाथ जी ज्योतिषी[२] जयपुर भेजे गये। वे वहाँ से बिहारी-सतसई के हस्तलिखित ग्रन्थ एवं तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री का संकलन करके १९२० तक वापस आ गये। सन् १९२१ ई० से रत्नाकर जी ने बिहारी सतसई का सम्पादन करना प्रारम्भ कर दिया, जो १९२२ ई० में पूर्ण हुआ। उसके उपरान्त रत्नाकर जी की लेखनी अबाध गति से चल पड़ी यद्यपि दरबार के कार्य से अब भी इन्हें पूर्ण मुक्ति न मिली थी।

---

१. विशाल भारत जुलाई १९२८, रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण लेख। मदनलाल चतुर्वेदी, पृ० १०६।

२. रामनाथ जी अयोध्या-पुस्तकालय के अध्यक्ष थे।

"१४ मई १९२१ का दिन व्रज-भाषा के इतिहास में स्मरणीय रहेगा, जब रत्नाकर जी ने 'गंगावतरण' काव्य की रचना प्रारम्भ की।"[1]

गंगावतरण की रचना अवधेश्वरी की प्रेरणा के फलस्वरूप हुई थी। १९२३ ई० में यह समाप्त हो गया। १९२४ ई० में 'रोला छंद के लक्षण' नामक लेख ना० प्रा० पत्रिका में प्रकाशित हुआ।[2]
इस लेख से पिंगल शास्त्र सम्बन्धी रत्नाकर जी के ज्ञान का बोध होता है।

सन् १९२० ई० से १९२५ तक कुछ निबन्ध जब तक नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। यह युग राष्ट्रीय जागरण का था। युग एवं वातावरण के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति अपने को बचा पाने में असमर्थ होता है। अतः सभी प्राचीन एवं नवीन धारा के कवि राष्ट्रीयता के रंग में रँगे हुए थे। उदाहरणार्थ, भगवानदीन जी 'वीर पंच रत्न' लिख रहे थे; वियोगी हरि 'वीर सतसई' की रचना कर रहे थे। पं० बदरीनाथ जी भट्ट तथा बा० मैथिलीशरण जी गुप्त आदि भी राष्ट्रीयतापूर्ण काव्यों की रचना कर रहे थे। अतः रत्नाकर जी भी अपनी भावनाओं को न रोक सके और इन्होंने लिखा है।

आरत होहु न भारत वासी सँभारत दुःख सबै ठिलि जात है।
त्यौं 'रतनाकर' हाथ औ माथ हिलाएँ हिमाचल हूँ हिलि जात है॥
काह न होत उछाह नि सौं मृदु कोटहू पाहन मैं मिलि जात है।
आरत त्यागि कै ढारस कीन्हें सुधारस पारस हूँ मिलि जात है॥

सन् १९३० के आन्दोलन से प्रभावित होकर गान्धी जी की प्रशस्ति में इन्होंने लिखा था।

जानि बल पौरुष बिहीन दीन छीन भयौ,
आपने बिगाने हूँ कटाई जाति काँधी है।
कहै 'रतनाकर' यौं मति गति साधी मची,
जाकी क्रांति बेग सौं असांति महा आँधी है।
कुटिल कुचारी के निगीरन मुखारी पर,
वक्र चाहि चक्र-चरखे की फाल बाँधी है।
ग्रसित गुरंड-ग्राह आरत अथाह परे,
भारत-गयन्द कौ गुविन्द भयो गाँधी है।

---

१. विशाल भारत, जुलाई १९२८ पृ० १०६।
२. ना० प्र० पत्रिका भाग ५, संवत् १९८१, पृ० ७५।

इसी काल में वीराष्टक की रचना हुई तथा इसी काल में इन्होंने अन्य अष्टकों की भी रचना की। इसी युग में आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने कवियों को प्रकृति की ओर मोड़ने का प्रयास किया है। पं० श्रीधर पाठक का प्रकृति-चित्रण इस युग की ही देन है। पंत का भी आविर्भाव हो चुका था। रत्नाकर जी ने भी प्रकृति विषयक अभिरुचि दिखाई और इसी के परिणाम-स्वरूप रत्नाष्टक के अन्तिम ८ अष्टकों की रचना हुई। रत्नाकर जी को यद्यपि खड़ी बोली मात्र से विरक्ति थी, तथापि काव्य की गतिविधि में ये भी परिवर्तन चाहते थे। जैसा कि इनके प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में दिये गए भाषण से ज्ञात होता है।[1]

कोशोत्सव स्मारक-संग्रह में व्रज-भाषा व्याकरण पर इन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। पिंगल ग्रन्थों का भी इन्होंने गहन अध्ययन किया था। सवैया और घनाक्षरी इनके प्रिय छन्द थे। ये इन छन्दों की रचना में सर्वश्रेष्ठ कवियों में से थे तथा देव एवं घनानन्द को छोड़कर ये सभी कवियों का अति-क्रमण कर जाते हैं।

'उद्धव शतक' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके छन्दों की रचना जब तब हो जाती थी। हरिद्वार में एकबार इनकी एक पेटी चोरी चली गई थी। उसी में 'उद्धव शतक' के भी छंद चले गये थे। किन्तु रत्नाकर जी ने अपनी स्मरण शक्ति से सो सवा सो छन्द ज्यों के त्यों लिख लिये, बाकी छन्द पता नहीं कहाँ गये। सूर-सागर का सम्पादन कार्य इन्होंने सन् १९२८ ई० में आरम्भ किया। किन्तु दुर्भाग्यवश इनके द्वारा यह कार्य सम्पन्न न हो सका। यद्यपि दशम सर्ग के तीन चौथाई भाग तक ये उसका सम्पादन कर चुके थे। नवम स्कन्ध तक तो ये उसे प्रकाशित भी करवा चुके थे। इनके हाथों और भी कई ग्रंथों का सम्पादन समय-समय पर हुआ। १८९७ ई० में 'सुजान-सागर' का सम्पादन हुआ। घनानंद पर यह सर्वप्रथम ग्रंथ प्रकाशित हुआ। 'हम्मीर-हठ' चंद्रशेखर रचित ना० प्र० सभा से सम्पादित करके प्रकाशित किया। कवि-कुल-कंठाभरण का भी सम्पादन इन्होंने किया और भी अनेक ग्रंथों का सम्पादन किया। शिवाजी का पत्र जो फारसी में था उसे भी सम्पादित किया गया। निरालाजी

---

१. प्रथम अखिल भारतीय कवि सम्मेलन से दिये गये भाषण में लिखा है:—व्रज भाषा के कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी कविता के रंग-ढंग तथा रचना-प्रणाली में समय की आवश्यकता तथा समाज की रुचि के अनुसार कुछ परिवर्तन आरम्भ करें। पृ० १७, १८।

ने बाद में इसी पत्र के आधार पर अपनी विशिष्ट रचना 'शिवाजी का पत्र' लिखी थी।

२६-१२-२५ में वे प्रथम अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति पद पर आसीन हुए थे। चतुर्थ प्राच्य सम्मेलन के हिंदी-विभाग के सभापति ये ६-११-२६ को चुने गये थे। सन् १९३० ई० में वे बीसवें अखिल-भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के भी सभापति चुने गये थे। इस सम्बन्ध में एक अत्यधिक रोचक घटना वर्णित की जाती है। जब यह सभापति-पद ग्रहण करने के लिये गए तब अपने राजसी ठाट-बाट में गए। सम्मेलन के कार्यकर्ताओं की धारणा थी कि कोई खद्दरधारी, दुर्बल, क्षीण व्यक्ति सभापति होंगे, पर स्टेशन पर पहुँचने पर उनकी कल्पना के विरुद्ध रत्नाकर जी के ठाट-बाट को देखकर उनकी भावनाओं को धक्का पहुँचा और स्वागतार्थ जो हार आदि वे लाये थे उन्हें वे लौटा ले गये। निस्संदेह तत्कालीन राजाओं एवं तालुकेदारों के व्यवहारवश सामान्य जनता को इस वर्गविशेष से घृणा हो गई थी। अतः यदि उन लोगों ने ऐसा किया तो आश्चर्य नहीं। स्पष्ट है रत्नाकर जी का रहन-सहन एवं रोब-दाब किसी राजा महाराजा से कम न था। किंतु साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने कभी आलस्य नहीं दिखाया।

ग्रीष्म काल व्यतीत करने के लिये ये प्रतिवर्ष के अनुसार १९३२ में भी हरिद्वार गये हुए थे। ६० वर्ष की अवस्था से इन्हें हृदय-रोग हो गया था। पर वैसे ये पूर्ण स्वस्थ थे। कार्य करने की क्षमता इनमें बहुत थी तथा साहित्य-सेवा ये अपनी पूर्ण शक्ति से करते थे। १९३२ ई० में २१ जून को इनका देहावसान अचानक ही हो गया। इनके मित्र इनकी नई रचनाओं को सुनने के लिये उत्सुक हो रहे थे। किंतु २२ जून को उन पर वज्राघात हुआ, जब उनको ज्ञात हुआ कि रत्नाकर जी अंतिम यात्रा कर चुके हैं। रत्नाकर जी का अंतिम छंद निम्नलिखित था, जो १९ जून को 'बेलिकृष्ण रुक्मिणी री' के रचयिता पृथ्वीराज की रानी की वीरता की प्रशंसा में रचा गया था।

रानी पृथिराज की निहारति सिँगार-हाट,
पारति सु दीठि गथ विविध बिसाती पै।
कहै 'रतनाकर' फिरी त्यौं फँसी फंद बीच,
लपक्यो नगीच नीच धरम अराती पै॥
परसत पानि अनवान राजपूती आनि,
औचक अचूक घात कीन्हीं घूमि घाती पै।

झटकि झटाक कर पटकि धरा पै धरी,
काती नोक गब्बर अकब्बर की छाती पै ॥

रत्नाकर जी स्थूल शरीर के थे। उनका मुख-मण्डल कान्तिमय एवं रोबपूर्ण था। एक दृष्टि में किसी को भी इनके तालुकेदार होने का भ्रम हो सकता था। जैसा कि इनकी सभापति-सम्बन्धी घटना से स्पष्ट है, जो इनके साथ कलकत्ता स्टेशन पर घटी थी। रत्नाकर जी ने जिस युग में जन्म लिया था वह मध्यकालीन संस्कृति का था, जिसमें सामन्ती प्रवृत्ति प्रमुख थी। रत्नाकर जी का परिवार राज-दरबारों के सम्पर्क के कारण स्वतः सामन्ती प्रवृत्ति प्रधान था। रत्नाकर जी स्वयं भी आवागढ़ रियासत एवं अयोध्या दरबार के प्रभाव से पूर्णतः रजोगुण प्रधान हो गये तो आश्चर्य ही क्या। किन्तु इसका अर्थ यह भी करना उचित न होगा कि ये विलासी थे अथवा कार्य करने में आलस्य करते थे।

रत्नाकर जी के इष्टदेव श्री राधाकृष्ण थे। वृन्दावन में गोपालभट्ट का स्थापित किया हुआ राधारमण का मन्दिर है। गौड़ीय माध्व सम्प्रदाय से इसका सम्बंध है। रत्नाकर जी पूर्ण रूप से भक्ति मार्गी थे। जिस प्रकार सूरदास जी ने भक्ति धर्म का अनुमोदन किया है उसी प्रकार इन्होंने भी किया है। इनके 'उद्धव शतक' की गोपियाँ तर्क में किसी भी वकील को परास्त करने में समर्थ होंगी।

काशीवासी होने के नाते भगवान् शंकर पर इनकी श्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है। रत्नाकर जी भी शिव जी का पार्थिव पूजन करते थे। धर्म के विषय में रत्नाकर जी अत्यधिक उदार थे। किंतु फिर भी साम्प्रदायिकता उनमें कुछ अंश में आ ही गई थी। गंगावतरण की रचना से गंगा जी के प्रति भी उनकी श्रद्धा का आभास हमें मिल जाता है।

रत्नाकर जी के ही परिश्रम से रसिक-मंडल नामक व्रज-भाषा कवि-समाज की स्थापना हुई, जिसमें वे बराबर जाया करते तथा व्रज-भाषा के कवियों को प्रोत्साहित किया करते थे। काशी में गोपाल मंदिर में कवि-समाज की रोज बैठक हुआ करती थी। इसमें भी वे प्रति दिन जाया करते थे। इसे श्री १०८ गोस्वामी बालकृष्ण महाराज ने, जो कांकरोली मठ के पुराधिपति थे, स्थापित किया था। बाद में मतभेद हो जाने पर इन्होंने इस कवि-समाज की सदस्यता छोड़ दी थी। किंतु ये फिर भी जब तब चले ही जाया करते थे। यह समाज सभ्यों, कवियों तथा सर्वसाधारण के हितार्थ स्थापित किया गया था। रत्नाकर जी की महाराजा से प्रगाढ़ मित्रता थी। उन्हीं के आदेशानुसार इन्होंने घनाक्षरी-

नियम-रत्नाकर की रचना की थी। उन्हीं के आदेशानुसार इसे कवि-समाज के हित के लिए श्री रामकृष्ण वर्मा ने भारत जीवन प्रेस से मुद्रित किया था।

प्रायः रत्नाकर जी घर से बाहर ही रहा करते थे। ग्रीष्मकाल तो सदैव पर्वतीय प्रदेशों में ही व्यतीत करते थे। पर ये जहाँ जाते थे अपना सारा सामान ले जाते थे और साहित्य-रचना निरन्तर चला करती थी। ये कभी व्यय के लिये चिंतित न होते थे। प्रायः हरद्वार में ये गर्मियों में जाते थे। इनके साथ इनके लिपिक भी जाते थे। अंतिम दिनों में ये सूरसागर का सम्पादन कर रहे थे। अपने लिपिकों को भी ये कई विभागों में बाँट लेते थे। हर विभाग के लिपिक को भी अलग-अलग कार्य बाँट देते थे। ये प्रयाग भी जाया करते थे। प्रायः जाड़ों में ये लखनऊ आते थे और अयोध्या-भवन में टिका करते थे।

रत्नाकर जी का आजकल जो सर्वसुलभ चित्र है उसमें ये अचकन, चूड़ीदार पायजामा, पम्प शू, गोल टोपी धारण किये हुए और हाथ में पतली छड़ी लिये हुए हैं। पर रत्नाकरजी की सदैव से यही वेश-भूषा न थी। अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ये बनारसी वेश-भूषा पसन्द करते थे। धोती, कुर्ता और दुपल्ली टोपी धारण किया करते थे। कभी-कभी अपने समाज में ये पगड़ी भी पहनते थे। इनका पगड़ी पहना हुआ चित्र रत्नाकर-भवन में आज भी सुलभ है। पूजा करके उठे हुये और हुक्का पीते हुये भी इनका एक चित्र है; इस चित्र में ये कसी हुई आधी बाँह की बण्डी पहने हुए हैं। धोती कुर्ता के साथ ये प्रायः रेशमी दुपट्टा भी डाल लिया करते थे। इस वेश में भी इनका एक चित्र है। कदाचित् अयोध्यावास के बाद से इन्होंने स्थायी रूप से चूड़ीदार पायजामा, कुर्ता और अचकन का परिधान अपना लिया और जीवन-पर्यन्त ये येही वस्त्र धारण करते रहे। घर पर भी ये प्रायः सदैव इसी वेष में रहते थे। रत्नाकरजी सम्पन्नता एवं समृद्धि के वातावरण में पले थे, अतः स्वतः तो सामन्ती स्वभाव के थे ही, पर अयोध्या-वास से उनके जीवन में विशेष रूप से परिवर्तन हो गया था। अब ये दीवान के पद पर थे। अतः अपने ठाट-बाट में कमी न सहन कर सकते थे। रेशमी वस्त्रों का उपयोग अधिक करने लगे। प्रायः चाँदी के पात्रों का उपयोग भी पर्याप्त रूप से होने लगा। आँखों में वे सुर्मा भी लगाते थे। उन दिनों इसका फैशन था। पान भी वे ज्यादा खाते थे और हुक्का पीने में वे गर्व का अनुभव करते थे। सर्व-साधारण को अपने से निम्नस्तर का समझने लगे थे। पहले की तरह अब वे सभी से हास्य-विनोद भी न करते थे।

रत्नाकरजी भोजन भी संयमित रूप से करते थे। ये सदैव एक समय दोपहर में भोजन करते थे। फल इन्हें अत्यधिक प्रिय थे। दिन भर ये फल खाया करते थे। इनका स्वास्थ्य इसी पर निर्भर था, कारण भोजन तो ये एक ही समय किया करते थे। रात्रि में नियमित रूप से ये दूध पिया करते थे।

रत्नाकर जी अत्यधिक सरल, विनोदप्रिय एवं उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। पोप का 'एसेज ऑन क्रिटिसिज्म' का तो इन्होंने 'समालोचनादर्श' नाम से अनुवाद भी किया है। ये टेनिसन को अधिक पसन्द करते थे। ये फारसी में एम० ए० करना चाहते थे। फारसी में तो कविता भी करते थे, हिन्दी में तो इनका बाद में प्रवेश हुआ। राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' नामक नाटक में एक गजल रत्नाकरजी की ही सहायता से रची गयी गयी थी।[1]

---

१. राधाकृष्ण दासजी ने फुटनोट में लिखा है। "यह गजल मित्रवर बाबू जगन्नादास बी० ए० 'रत्नाकर' की सहायता से बनी है।"

रहा मैं गुमराह जिंदगी भर इलाही तोबा इलाही तोबा।
बला मैं नेकी की हाय राह पर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
दी इसलिये मुझको बादशाही कि तेरे बन्दों को पहुँचे राहत।
वले किया मैंने जुल्म इन पर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
रहा लगा नफसपरवरी में न दिल दिया दाद गुश्तरी में।
पड़े मेरी अक्ल पर यह पत्थर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
बहाना जालिम कुशी का करके किये बहुत मुल्क फतह हमने।
वले किये और उनपे बदतर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
भला हो इस हूर पारसा का उठाया आँखों से जिसने परदा।
हैं जिस्त एमाल मेरे अक्सर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
हुआ है दामन गुनाह यों तर कि गर निचुड़ जाय वह जमीं पर।
तो डूब जाऊँ मैं उसमें ता सर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
फकत तेरे बख्शीशो करम का है एक भरोसा मुझे खुदाया।
नहीं कोई और अब है यावर इलाही तोबा इलाही तोबा॥
नजर जो किरदार पर मेरे की तो हो चुकी शक्ल मुखलिसी की।
निगाह अपनी करम प' तू कर इलाही तोबा इलाही तोबा॥

राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृष्ठ ६६२-६३॥

इनकी विभिन्न प्रकार की रुचि के कारण इनके मित्र भी विभिन्न प्रकार के थे। इनकी सरलता से सभी इनकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इनके मित्रों में सभी प्रकार के व्यक्ति थे—शायर, अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक, हिन्दी के कवि सभी सम्मिलित थे। लखनऊ में जब ये आते थे तो प्रायः दो जगह विशेष रूप से जाते थे। एक तो श्यामसुन्दर दासजी के घर, दूसरे मिश्रबन्धु भवन। पं० कृष्णबिहारी मिश्रजी से इनकी अनन्य मैत्री थी। रत्नाकरजी उन्हें अपने छन्द सुनाया करते थे। माधुरी का सम्पादन छोड़ कर जब वे गन्धौली चले गये तब भी रत्नाकरजी अपने लखनऊ आने की सूचना उन्हें एकबार दे दिया करते थे और वे लखनऊ आ जाया करते थे। रत्नाकरजी ने अपनी तुलना पद्माकर से करते हुये कहा था कि पद्माकर में तो पद्म ही उत्पन्न होते हैं किन्तु रत्नाकर में तो रत्न उत्पन्न होते हैं। इस पर मिश्रजी ने गम्भीर होकर कहा था कि हाँ रत्नाकर में तो और भी बहुत कुछ होता है, पद्माकर तो केवल पद्म ही प्रदान करता है।

रत्नाकरजी के स्वभाव की विनम्रता उनके इस प्रकार के शब्दों से प्रकट होती है, 'मेरी इच्छा है कि इस लेख में यथाशक्ति स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण स्थिर करूँ ....यद्यपि इस विषय पर लिखने के हेतु मेरे एक लघु मति के प्रयास होने से विद्वन्मण्डली में हँसी हो जाने की सम्भावना है तथापि यह समझकर ढिठाई करता हूँ कि यदि कहीं मेरी समझ में भूल होगी और कोई महाशय कृपा करके मुझे सूचित करेंगे तो इसी ब्याज से मुझे शिक्षा मिलेगी।"[१]

किन्तु उक्त विनम्रता के साथ ही साथ रत्नाकरजी में गर्व की मात्रा भी पर्याप्त थी, यद्यपि इस गर्व ने घमण्ड का रूप नहीं धारण किया था। बड़ों का आदर एवं विनम्रता का आभास निम्न घटना से स्पष्ट हो जायगा। अयोध्या में द्विज बलदेव जी आए हुए थे। उनके छन्द में रत्नाकरजी को कुछ अनौचित्य ज्ञात हुआ और इन्होंने उसे स्पष्ट रूप से सबके समक्ष कह दिया। यद्यपि रत्नाकरजी ने सहज स्वभाव से ही कहा था किन्तु द्विज बलदेवजी उसे सुनकर गम्भीर हो उठे और रत्नाकरजी को फटकारने लगे। इस पर रत्नाकरजी उनके चरणों पर गिर पड़े। उस समय द्विज बलदेवजी इनके अतिथि भी थे, अतः कदाचित् इसीलिये रत्नाकरजी को और भी ग्लानि हुई होगी कि अतिथि का सम्यक् सम्मान न हो सका।।

---

१. साहित्य-रत्नाकर की भूमिका।

रत्नाकर जी ने गंगावतरण काव्य के आरम्भ में अपनी तुलना वाल्मीकि जैसे कवियों से की है—

"त्रेता जुग मुनि बालमीकि द्वापर पारासर,
कलि में यह सुचि चरित चारु गैहै रत्नाकर।"[1]

इसी प्रकार ये अपने को रत्नाकर अर्थात् काव्य-रत्नों से पूर्ण विशाल सागर मानते थे। पद्माकर से अपने को श्रेष्ठ कहने में उन्हें कभी संकोच न हुआ। कल काशी में वे कहते हैं—

आयुर्वेद प्रभेद परम भेदी गनेस से,
रस-प्रयोग आचार्य चारुमति त्रिबकेस से।
सुरुचि सौम्य साहित्य सलिलधर गंगाधर से,
रोचक कवितारत्न रुचिर गृह रत्नाकर से।[2]

मनुष्य में आत्माभिमान होना अत्यधिक आवश्यक है। अतः यदि रत्नाकर जी में था तो उचित ही था। इनकी इन गर्वोक्तियों को अनुचित कहना ठीक न होगा। वैसे सामान्य रूप से तो ये अत्यधिक सरल स्वभाव के थे। ये किसी का आग्रह टालने का साहस न करते थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी आनेवाले थे। अतः कुछ लोगों ने उनसे खद्दर धारण करके जाने का आग्रह किया और इन्होंने इस आग्रहको सादर स्वीकार कर लिया। इससे स्पष्ट है कि वे अत्यधिक शीलवान् थे।

किसी भी कवि की काव्य-कृतियों पर उसकी व्यक्तगत रुचि का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतः रत्नाकर जी की रुचि पर भी दृष्टि डाल लेना उचित ही होगा। रत्नाकर जी को बचपन में कबूतर पालने का शौक था। अनेक प्रकार के कबूतर रत्नाकर जी पाला करते थे, जिनका चित्रण रत्नाकर जी ने गंगावतरण में इस प्रकार किया है—

जल सों जल टकराइ कहूँ उच्छलत उमंगत।
पुनि नीचै गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए।
लरि अति ऊँचैं उलरि गोति गुथि चलत सुहाए॥२६॥

(सप्तम सर्ग)

घुड़सवारी का भी इन्हें पर्याप्त शौक था, प्रायः ये घोड़े पर निकला करते थे। प्रातःकाल ये घोड़े पर दूर तक चले जाते थे। वृद्धावस्था आने पर

१ रत्नाकर, प्रथम भाग पृ० २४५। २ वही पृ० ६८।

इन्होंने घुड़सवारी छोड़ दी थी। संगीत का भी इन्हें शौक था। सितार, मृदंग तथा बीन बहुत अच्छी तरह बजा लेते थे।

पैदल चलना भी इन्हें रुचिकर था। इनके चलने की शक्ति एवं गति का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि कई बार ये देहरादून से मंसूरी तक पैदल चले गये थे। यद्यपि अयोध्यावास के बाद ये स्थूल शरीर हो जाने के कारण अधिक शारीरिक परिश्रम करने में असमर्थ हो गये थे तथापि इनमें शक्ति की कमी न थी। प्रातःकाल ये प्रायः पैदल ही टहलने जाया करते थे यद्यपि बाद में हृदय-रोग के बढ़ जाने से इन्होंने पैदल चलना छोड़ दिया था। दूर तक टहलते हुए जाते थे किन्तु सवारी साथ रहती थी और लौटते तो सवारी पर ही। सन् १९०३ ई० में एक बार ये बम्बई गये हुए थे। उन दिनों मोटर का नया-नया प्रचार भारतवर्ष में हुआ था। अतः इन्होंने वहीं एक मोटर खरीद ली और उसे चलाना भी सीख लिया। पहले तो इन्हें स्वयं चलाने का शौक था, पर जी भर जाने पर बाद में ड्राइवर रख लिया। ये प्रायः नई मोटरें खरीद लिया करते थे। नई-नई मोटरों से इन्हें विशेष रुचि थी। 'कल काशी' में इन्होंने मोटर के विषय में लिखा है—

पौन वेग अति मौत गौन मोटर मनभाए।
कला कलित गौरंड देश के दिव्य बनाए॥[1]

उन दिनों चने, चावल आदि अन्न के छोटे-छोटे दानों पर लिखना तथा चित्र बनाना कलापूर्ण रुचि मानी जाती थी। इन्हें भी इस कला के प्रति प्रेम था और चने पर सुई से ये पूरा श्लोक लिख दिया करते थे। सम्भव है उन दिनों कलाकारों के लिये यह साधारण बात हो, पर आज तो इस बात पर विश्वास भी करना कठिन क्या असम्भव-सा प्रतीत होता है। हुक्का पीने की बात हम पहले कह चुके हैं। उसका इन्हें इतना ज्यादा शौक था कि कहा जाता है कि हुक्का इनका दिन-रात का साथी बना हुआ। घर में, पुस्तकालय में, ट्रेन में—तात्पर्य यह कि हर स्थान पर इनके साथ हुक्के का होना आवश्यक था। यहाँ तक कि घोड़े पर जब जाते थे तो पावदान पर भी हुक्का रक्खा रहता था। प्रातःकाल उठते ही हुक्का पीते थे। तभी इनका चित्र हुक्के साथ प्रातःकालीन वेष-भूषा में है। यह चित्र मुझे उनके पौत्र श्री रामकृष्ण जी की कृपा से देखने को प्राप्त हुआ। एक नौकर हर समय भरा हुक्का तैयार करने के लिये नियुक्त था। यद्यपि अपने काव्य में इन्होंने हुक्के

---

१. रत्नाकर : प्र० भा० पृ० ११४।

का कहीं उल्लेख नहीं किया है तथापि हुक्के से इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा मिल जाती थी ऐसा अवश्य प्रतीत होता है।

प्राचीन शिला लेखों को पढ़ने की रुचि उनकी बड़ी प्रबल थी।

सम्राट् समुद्रगुप्त के दो घोड़े एक लखनऊ अजायब घर में तथा दूसरा संकटमोचन बनारस में मिले थे। इन दोनों के ऊपर का लेख पढ़ने में रत्नाकर जी ही सफल हुए थे। लखनऊ वाले अश्व पर जो लेख था अंग्रेज विद्वानों ने केवल मात्र चित्रकारी समझ कर ही छोड़ दिया था, किन्तु रत्नाकर जी की तीव्र दृष्टि ने उसे लेख माना और वे पढ़ने में भी पूर्ण सफल हुए। इनके तत्सम्बन्धी लेख 'एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में तथा 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' आदि में प्रकाशित हुआ करते थे।

रत्नाकर जी प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश में पर्याप्त रुचि रखते थे। इनमें भी अर्थ लगाने की उनमें विलक्षण शक्ति थी। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी ने पुरानी हिन्दी[1] नामक लेख में अपभ्रंश का एक छंद दिया है और लिखा है कि उसका उचित अर्थ रत्नाकर जी से ज्ञात हुआ जबकि बड़े-बड़े विद्वान् भी उसका अर्थ न लगा सके थे। मदन लाल चतुर्वेदी ने अपने लेख में लिखा है:—

"रत्नाकर जी केवल कवि ही नहीं थे बल्कि प्राकृत, संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, उर्दू और अन्य भाषाओं के पंडित भी हैं। वे भाषा विज्ञान के वेत्ता हैं। पुराने ग्रंथों का उनका जबर्दस्त अध्ययन है। कविता के काव्य के वे पंडित हैं।"[2] श्यामसुन्दर दास जी ने भी रत्नाकर जी के अर्थ करने की क्षमता के लिये लिखा है, "छंदों या चौपाइयों और दोहों का विलक्षण अर्थ करने में यह बड़े ही निपुण हैं।"[3] अम्बिकादत्त व्यास ने उनके टीका करने की प्रशंसा की है[4] और डा० गंगानाथ झा ने भी बिहारीरत्नाकर के सम्बन्ध में लिखा है, "इस ग्रन्थ को देखने से ही स्पष्ट है कि रत्नाकर जी केवल सरस कवि ही नहीं बल्कि बड़े सरस टीकाकार भी हैं।"[5] इसी लेख में उन्होंने आगे कहा था कि मल्लिनाथ ने प्रतिज्ञा की थी कि आवश्यक बात एक भी न छोड़ेंगे और अनावश्यक

---

१. ना० प्र० पत्रिका भाग २ सं० १९७८ पृ० ४६२।

२. रत्नाकर और उनका गंगावतरण लेख जुलाई १९२८। विशाल भारत पृ० १११।

३. हिंदी कोविद माला : श्यामसुंदर दास।

४. बिहारी बिहार, पृ० ३८ पं० अम्बिकादत्त व्यास।

५. बिहारी रत्नाकर लेख। माधुरी। १२ नवम्बर, १९२६ ई०।

एक भी न लिखेंगे। इसकी पूर्ति रत्नाकर जी ने इसमें की है, चाहे मल्लिनाथ ने न की हो। दोहे तोड़ कर कई अर्थ हो सकते हैं पर रत्नाकर जी ने अपने को मोह में न डालकर उचित अर्थ बिहारी-रत्नाकर में अपनाया है।

रत्नाकर जी की इस विलक्षण क्षमता को देख कर, इस उक्ति पर विश्वास नहीं होता कि टीका करने की शक्ति एवं कविता शक्ति एक दूसरे के विरुद्ध हैं। कविता करने एवं टीका करने की शक्ति रत्नाकर जी में समान थी।

रत्नाकर जी को आयुर्वेद का भी शौक था। कदाचित् यह पैतृक देन थी। पुरुषोत्तम दास जी भी वैद्यक का अच्छा ज्ञान रखते थे। अब उनकी बनाई हुई औषधियाँ सुरक्षित हैं, जो आयुर्वेद के ढंग से बनाई गई थीं। इनके इस ज्ञान का इनके काव्य में यत्र तत्र वर्णन है। 'उद्धव शतक' में इनका यह छंद इसका उदाहरण है :—

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्शन हूँ यों सुधि सिराई हैं।
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ,
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषम ज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।

रसायन बनाने की विधि निम्न छंद में भी रूपक के साथ बड़ी चतुराई से व्यक्त की गई है :—

चल-चित-पारद की दम्भ कंचुली कै दूरि,
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ सीली लै।
कहै 'रतनाकर' सु जोगनि बिधान भाखि,
अमित प्रमान ज्ञान-गन्धक गुनीली लै॥
जारि घट-अन्तरहीं आह-धूम धारि सबै,
गोपी बिरहागिनि निरन्तर उगीली लै।
आए लौटि ऊधव बिभूति भव्य भायनि की,
कायनि की रुचिर रसायन रसीली लै ॥१०५॥'

---

१. रत्नाकर प्रथम भाग, पृ० १५४ । उद्धव शतक ।

इसी प्रकार 'शृंगार लहरी' का निम्न छंद भी उनके वैद्यक-ज्ञान को व्यक्त करता है :—

हाल बाल परी है बिहाल नंदलाल प्यारे
ज्वाल सी जगी है अंग देखैं दीठि जारे देति।
प्रेम लोक लाज मिलि विरह त्रिदोष भयौ,
कहै 'रतनाकर' सुनैन नीर ढारे देति॥
खत्तर धनत्तर से हारि रहे आमि मुख,
चन्द्रोदय आखिरी इलाज है पुकारे देति॥
झाँवरी भई है दुति बावरी भई है मति,
और की कहा है सुधि रावरी बिसारे देति॥[1]

रत्नाकर जी शुद्धि के बड़े पक्षपाती थे। कदाचित् यह आधुनिक प्रभाव आर्यसमाज के द्वारा उन पर पड़ा हो। इनका विचार था था कि मुसलमानों को पुनः हिन्दू बना लिया जाये और सारा झगड़ा समाप्त हो जाये।

फिटन गाड़ी में प्रायः सन्ध्या समय निकलते थे। फिटन का इन्हें अत्यधिक शौक था। युवावस्था में यह शारीरिक व्यायाम करते थे। मुग्दर भी भाँजते थे। जोड़ी घुमाने का विशेष रूप से इन्हें शौक था। वृद्धावस्था आने पर इन्होंने इसे छोड़ दिया पर कसरत सदैव किया करते थे।

रत्नाकर जी के कई मित्र थे। प्रयाग में रामप्रसाद जी वर्मा तथा पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इनके घनिष्ठ मित्रों में से थे। लखनऊ में बाबू श्याम-सुन्दरदास जी तथा पं० कृष्णविहारी जी मिश्र भी उनके परम मित्र थे। इनके अतिरिक्त पं० रूपनारायण पाण्डेय, पं० दुलारेलाल भार्गव तथा पं० बदरीनाथ भट्ट का भी साहचर्य इन्हें प्रिय था। काशी में हरिऔध जी, लाला भगवान दीन, बा० राधाकृष्ण दास, बा० वल्लभ दास, पं० रामनारायण मिश्र आदि उनके मित्र थे। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी काशी आने पर सर्वप्रथम इन्हीं के निवास-स्थान पर ठहरे थे।

एक बार रत्नाकर जी अपने हृदय रोग का इलाज कराने दिल्ली गये थे। वहीं इनकी भेंट पं० पद्मसिंह शर्मा से हो गई। उन्हीं के आग्रह पर सहर्ष रत्नाकर जी उन्हीं के साथ हरदुआगञ्ज पहुँचे। रोग की चर्चा के पश्चात् काव्य-चर्चा भी प्रारम्भ हो गई। देव-बिहारी का विवाद उन दिनों साहित्यिक क्षेत्र में एक प्रिय विषय बन गया था। रत्नाकर जी एवं पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा दोनों

---

१. रत्नाकर, द्वि० भा०, शृङ्गार लहरी, पृ० ३५ छं० ११४।

ही बिहारी के उपासक थे। अतः देव के प्रसंग में शंकर जी ने निम्न छंद बना कर सुना दिया—

न जी जाल की जल्पना से भरें,
वृथा सत्य के झूठ से क्यों मरें।
बिहारी के आगे परी देव की,
नहीं नाचती तो कहो क्या करें।[1]

इस पर का सब लोगों ने बड़ा आनन्द लिया। खूब हँसी हुई।

श्रीरामकृष्ण वर्मा से भी रत्नाकर जी का अच्छा संबंध था। श्री रामकृष्ण वर्मा भारतजीवन प्रेस के अध्यक्ष थे। वे पजनेश जी की कविताओं का संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे। किन्तु पजनेश जी के कवित्त कठिनता से प्राप्त होते थे। अतः उन्होंने यह घोषणा कर दी थी कि जो व्यक्ति पजनेश जी के कवित्त देगा उसे प्रति कवित्त एक रुपया पुरस्कार स्वरूप मिलेगा। रत्नाकर जी ने स्वयं ८-१० कवित्त पजनेश जी के नाम से जोड़कर बना डाले। २-४ कवित्त पजनेश जी के भी उन्हें याद थे। वे सब मिलाकर उन्होंने रामकृष्ण वर्मा जी को दे दिये और उनसे रुपये वसूल कर लिये। रामकृष्ण वर्मा स्वयं काव्य के मर्मज्ञ थे, किन्तु रत्नाकर जी की अनुकरण कुशलता के कारण वे रत्नाकर-रचित उन कवित्तों को न ताड़ सके, और उन्हें पुरस्कार-स्वरूप रुपये दे दिये। बाद में रत्नाकर जी ने वे रुपये वापस कर दिये और यह भेद उन्हें बतला दिया। रत्नाकर जी की विनोद-प्रियता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।[2]

नवयुवकों में इन्हें 'प्रसाद' जी प्रिय थे। प्रसाद जी और रत्नाकर जी में बड़ी आत्मीयता थी। साथ-साथ बैठ कर घण्टों काव्य-चर्चा में व्यतीत कर डालते थे। अनूप जी को रत्नाकर जी के साहचर्य का पूर्ण सुअवसर प्राप्त हुआ था। अयोध्या में इनके साथ ही वे कुछ दिनों तक रहे थे। जब रत्नाकर जी लखनऊ आए तब भी अनूप जी उनके पास आकर रहे और कानपुर के प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में भी उनके साथ गए। अनूप जी से ज्ञात हुआ है कि रत्नाकर जी कभी लेखनी लेकर रचना करने के उद्देश्य से नहीं बैठते थे। समय-समय पर स्वतः उनके मुख से काव्यधारा प्रवाहित हो पड़ती थी। इस दिशा में अनूप जी ने भी उनका अनुकरण किया है। रत्नाकर जी उदारता-वश नवयुवकोंकी साहित्य-रचना के दोषों पर ध्यान नहीं देते थे,

---

१. माधुरीः बिहारी-रत्नाकर, नवम्बर १९२६ ई० । पृ० ५०७

२. रेखा चित्रः बनारसी दास चतुर्वेदी । पृ० १०६ ।

अपितु यह समझते थे कि वे स्वयं समय पाकर ठीक हो जायेंगी। वैसे वे स्वयं अपने काव्यादर्श से कम स्तर पर काव्य-रचना पाप समझते थे।

रत्नाकर जी रसिक व्यक्ति थे। उनकी रसिकता पर पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने लिखा है : "बाबू जगन्नाथ दास बी० ए० के स्वर्गवास के लगभग दो मास पहले उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी सरलता एवं स्पष्टोक्ति उनके नवयुवक प्रेमियों के सम्मुख भी उनकी रसिकता की प्रवृत्ति का सच्चा रूप प्रस्तुत कर देती थी। नारी लावण्य के प्रति अत्यन्त अनुराग उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता थी आध घंटा भी यदि आपने उनके पास बैठ लिया है तो इस विशेषता की अमिट छाप को अपने हृदय पर अंकित होने देकर ही आप उठ सके होंगे।"[1] यद्यपि इस कथन में अतिशयोक्ति है।

रत्नाकर जी को श्री दुलारेलाल भार्गव ने आलसी कह डाला है। यद्यपि यह झूठा आरोप भी कहा जा सकता है। अयोध्यावास के कारण रत्नाकर जी कुछ सामन्ती प्रकृति के अवश्य थे पर वे आलसी न थे। हाँ, स्वयं लिखने की आदत उनकी छूट गयी थी। काव्य-रचना तो कर लेते थे किन्तु आलोचना आदि बिना अन्य लिपिक के वे न कर पाते थे। बिहारी-रत्नाकर में रत्नाकर जी को कुछ विलम्ब हुआ था। इसी पर पं० दुलारेलाल भार्गव ने उन्हें आलसी की उपाधि दे डाली। वास्तव में जहाँ अयोध्या-वास से हिन्दी-साहित्य को एक ओर हानि उठानी पड़ी वहीं दूसरी ओर लाभ भी हुआ। यदि वे अयोध्या में न होते तो बिहारी-रत्नाकर का सम्पादन असम्भव था। रत्नाकर जी आर्थिक जटिलता से मुक्त थे। अतः स्वाधीन होकर तन-मन-धन से वास्तव में साहित्य-सेवा करते थे। गंगावतरण पर इन्हें १२०० रुपये का मंगलाप्रसाद-पुरस्कार मिला था। वह इन्होंने नागरी-प्रचारिणी-सभा को दे दिया था। इसके अतिरिक्त इन्हें इसी रचना पर हिन्दुस्तानी-एकेडेमी से भी ५०० रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'सूर सागर' का प्रायः दशम स्कन्ध तक दो-तीन लिपिक रख कर अपने ही व्यय पर सम्पादन एवं प्रकाशन किया। वास्तव में यदि रत्नाकर जी को अवधेश्वरी से प्रेरणा न मिलती तो गंगावतरण का निर्माण ही न हुआ होता। रत्नाकर जी ने जो धन समर्पित किया उससे प्रति वर्ष दो 'रत्नाकर पुरस्कार' की व्यवस्था की गई है। रत्नाकर जी का पुस्तकालय भी उनके पुत्रादि ने उनके देहावसान के पश्चात् सभा को दान कर दिया था। इस

---

१. महाकवि हरिऔध, पृ० २८।

पुस्तकालय में सूरसागर की हस्त-लिखित १६ प्रतियाँ, 'बिहारी सतसई' की हस्तलिखित ६ प्रतियाँ तथा अनेक अन्य पुस्तकें थीं।

रत्नाकर जी में अपार लगन एवं अपूर्व धैर्य था। पाषाणाश्मों के लेख पढ़ने के साहस से उनकी लगन का पता लगता है। सूर-सागर जैसे महान् ग्रन्थ का सम्पादन, वह भी बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करके, महान् धैर्य की अपेक्षा रखता था। रत्नाकर जी में सूक्ष्म पर्यवेक्षण की शक्ति थी। इनके स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण से इनकी पर्यवेक्षण-शक्ति का पता चलता है। रत्नाकर जी ने उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध शहर देखे थे। यात्रा करने में वे पर्याप्त कुशल थे।

यद्यपि रत्नाकर जी खड़ी बोली के विरोधी थे किन्तु फिर भी उन्होंने खड़ी बोली में दो रचनाएँ की हैं। जिससे अनुमान होता है कि यदि वे और दीर्घायु होकर स्वर्गवासी होते तो खड़ी बोली में भी सुन्दर रचनाएँ कर जाते। कदाचित् उन्होंने इन दो छन्दों की रचना करके खड़ी बोली में भी ब्रजभाषा का लालित्य एवं माधुर्य खोजा हो।

रत्नाकर जी तुलसीकृत रामायण की टीका करना चाहते थे, पर यह कार्य उनके असामयिक निधन से नहीं हो सका। बिहारी पर भी एक पुस्तक समीक्षा के रूप में लिखने का विचार था। इसी उद्देश्य से प्रायः वे बिहारी-सम्बन्धी लेख जब तक लिखा करते थे। यद्यपि वे इन लेखों को पुस्तक का रूप न दे पाए किन्तु अब उनके पौत्र श्री रामकृष्ण जी ने बिहारी पर उनके सभी लेखों को एकत्र करके 'कविवर बिहारी' नाम से पुस्तक प्रकाशित कर दी है।

रत्नाकर जी को अपने जीवन काल में विभिन्न संस्थाओं से उचित अभिनन्दन पत्र मिले थे जिनमें कई तो नष्ट हो चुके हैं पर अब भी कई अभिनन्दन पत्र रत्नाकर-भवन के हाल में लगे हुए हैं। कुछ मान-पत्रों में उन्हें उपाधि भी प्रदान की गई है। 'भाषा मान पत्रम्' सम्वत् १६७७, पौष मास, कृष्ण पक्ष, नवमी को भारत धर्म महामण्डल द्वारा प्रदान किया गया है, जिसका आशय है: "हिन्दी भाषा की निपुणता एवं गौरव बढ़ाने के गुणों के कारण 'कवि सुधाकर' नामक उपाधि से अलंकृत किया जा रहा है।" 'संस्कृत विद्या मानपत्रम्' अयोध्या की विद्वत् समिति सभा द्वारा सम्वत् १६८५ कार्तिक शुक्ल पञ्चमी के दिन प्रदान किया गया जिसका भाव निम्नलिखित है: संस्कृत विद्या में योग्यता के कारण प्रसन्नता से सद्विद्या और शास्त्राभ्यास एवं सम्मान वृद्धि के लिये 'साहित्याचार्य केसरी' की उपाधि से अलंकृत करने में हम प्रमुदित होते हैं तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इनके शास्त्राभ्यास और

आध्यात्मिक शक्ति में अतिशय वृद्धि होती रहे।" इस प्रकार 'कविवर सुधाकर' एवं 'साहित्याचार्य केसरी' नामक इनकी उपाधियाँ थीं। और भी उपाधियां मिली थीं पर अब वे भूली जा चुकी हैं।

"इन्होंने अपनी आँखों से 'आधुनिक हिन्दी साहित्य के तीनों काल देखे थे पर हमारे साहित्य में जो-जो तूफान आये उनमें ये अचल पर्वत की भाँति खड़े रहे।"[1] पं० कृष्णशंकर शुक्ल के इस कथन की सत्यता ही रत्नाकर जी के व्यक्तित्व की महत्ता है। वैसे रत्नाकर जी रीतिकालीन काव्य के अन्तिम कवि माने गये हैं। वास्तव में वे पूर्णतः हिन्दी के क्लासिक कवि थे, जिसका भाव है प्राचीनता की दुहाई देना। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी का निम्न कथन उनके विषय में उल्लेखनीय है—

"रत्नाकर जी की मनोवृत्ति मध्य युग की-सी थी। वे मध्ययुग के ही वातावरण में रहते थे और अंग्रेजी पढ़कर भी उन्हें आधुनिकता से कोई विशेष रुचि न थी।"[2]

अतः हम कह सकते हैं कि वे प्राचीनता के पक्षपाती थे। उनकी प्रकृति अत्यधिक विनम्र एवं प्रतिष्ठा की कामना से हीन थी। उनका रचना उद्देश्य भी पूर्णतः स्वातः सुखाय ही था। वे ईश्वर की शक्ति की महत्ता मानने वाले भक्त थे। पर उनकी काव्य-रचना में भक्ति के साथ ही शृंगारिक भावना उस युग की देन थी। वास्तव में वे रीति काल एवं आधुनिक काल के बीच की कड़ी हैं। उस समय राष्ट्रीयता की पुकार गूँज रही थी। रत्नाकर जी को हिन्दू-जाति के गौरव का गर्व था। भारतवासियों को उन्होंने प्रबोध भी दिया है। पौराणिकता से उन्हें मोह था। फिर भी रहन-सहन तथा वेष-भूषा से रत्नाकर जी आधुनिक काल के नहीं वरन् सान्मतीय वर्ग के मध्ययुगीन व्यक्ति प्रतीत होते थे और रीतिकालीन कवियों का स्मरण दिलाते थे।

रत्नाकर जी कवि ही नहीं थे, वरन् गम्भीर विद्वान् भी थे। वे प्राचीन साहित्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे। उन्हें वास्तव में स्कालर कहा जा सकता है। उनकी विद्वत्ता एकांगी न थी। वे बहुज्ञ थे। उनमें जिज्ञासा थी और इसकी तुष्टि वे गर्वरहित होकर सरलता से कर लेते थे। उन्होंने हिंदी साहित्य को अनुपम रत्न प्रदान कर तथा अपने व्यक्तित्व की गम्भीरता के आधार पर अपने नाम रत्नाकर को सार्थक कर दिया।

---

१. पं० कृष्णशंकर शुक्ल का इतिहास, पृष्ठ ८०।

२. हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : पृष्ठ २०।

युग तथा परम्पराएँ

रत्नाकर जी की आविर्भावकालीन परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन करने के लिए यह उचित होगा कि हम उन्हें आवश्यक अंशों में विभाजित कर लें। राजनीति, समाज, धर्म तथा अर्थ वे प्रधान क्षेत्र हैं जिनकी भूमि पर पदाक्षेप करते हुए मनुष्य को आगे बढ़ना पड़ता है। अतः इन क्षेत्रों की तत्कालीन स्थिति उस व्यक्ति का निर्माण करने में बहुत कुछ कारण बनती हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्तिगत परिस्थितियाँ भी होती हैं जिनपर व्यक्ति की सफलता आश्रित रहती है। हम यहां इन परिस्थितियों पर एक सामान्य दृष्टि डालने का प्रयास करेगें।

राजनैतिक परिस्थिति

१८ वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापारिक से राजनैतिक संस्था बन गई। इसके उपरान्त पार्लियामेण्ट का नियन्त्रण कम्पनी पर बढ़ता गया। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में धार्मिक स्वतंत्रता भी घोषित हो गई। किन्तु भारतीय अपनी पराधीनता का अनुभव करते हुए राजनैतिक अधिकारों की ओर विशेष सजग होते जा रहे थे। लार्ड मैकाले और राजा राममोहन राय के प्रयास से अंग्रेजी शिक्षण की स्वीकृति हो गई थी जिससे भारतीय अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझते जा रहे थे। १९ वीं शताब्दी के मध्य तक गदर के पूर्व बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हुई जिन्होंने भारतीयों को असन्तुष्ट किया। पंजाब और सिन्ध की स्वाधीनता का अपहरण हुआ। झांसी की रानी को अपना उत्तराधिकारी गोद लेने की मनाही की गई। सिविल सर्विस की परीक्षाओं में भारतीयों के विरुद्ध अनुचित पक्षपात किया गया। भारतीय सैनिकों को बलात् बाहर भेजा गया आदि। यह सब निरंकुशता भारतीयों को क्षुब्ध करती गई। यातायात के साधनों का प्रचार हो जाने के कारण विचारों के प्रसार में भी सहायता मिली। रेल, तार, सड़कें, नहरें इत्यादि विचारों के प्रसार में बहुत कुछ सहायक हुए। इन्हीं कारणों से १८५७ का सिपाही-विद्रोह हुआ। यह विद्रोह हिंदी-भाषी प्रांतों में प्रमुख रहा। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस समय ७ वर्ष के बालक थे।

यद्यपि विद्रोह सफल नहीं हुआ तथापि उसके फलस्वरूप कम्पनी का शासन पूर्णतः समाप्त हो गया। भारत का शासन-सूत्र पार्लियामेंट के साथ में पहुँच

गया। पहली नवम्बर सन् १८५८ ई० को महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। इस घोषणापत्र से भारतीयों के हृदय में बहुत कुछ विश्वास उत्पन्न हो गया। उदारता, धार्मिक-सहिष्णुता के भाव इसमें विशेष थे। फलतः लगभग २० वर्ष तक देश में राजनैतिक आंदोलन शांत रहे। ह्यूम जैसे कुछ सहृदय अंग्रेजी शासन के दोष भी दिखलाते रहे और उन्हीं की प्रेरणा से कांग्रेस की की स्थापना हुई। अन्य वाइसरायों द्वारा सेना, पुलिस, कृषि इत्यादि से संबंध रखने वाले सुधार होते रहे।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृषि, सेना, पुलिस और आर्थिक व्यवस्था-संबंधी सुधार लार्ड कैनिंग के समय में हुए। इनके बाद लार्ड लारेंस के समय में भी कुछ हितकर सुधार हुए। सन् १८६४ ई० तथा १८६६ ई० में क्रमशः पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा रत्नाकर जी का जन्म हुआ। यह युग बहुत कुछ शांति पूर्ण रहा, फिर भी अनेक बुराइयां भी थीं जिसकी ओर ह्यूम जैसे भारत हितकारियों ने शासकों का ध्यान आकर्षित किया। १९ वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के आरम्भ में लार्ड लिटन वायसराय होकर आए। इनके समय में टेलिग्राम का भी प्रचार हुआ। लिटन प्रतिक्रियावादी थे उन्होंने दिल्ली दर-बार आयोजित कर विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया और भारत को इंग्लैंड का एक उपनिवेश माना। इससे भारत की पढ़ी लिखी जनता सशंक हो उठी। दूसरे, दिल्ली दरबार बड़ी शान से किया गया। एक ओर उसका खर्चा तथा दूसरी ओर देश का दुर्भिक्ष ? इसका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। भारत पर अनेक आर्थिक उत्तरदायित्व भी लाद दिए गए। भारतीयों और अंग्रेजों में भेद-भावना बढ़ा दी गई। भारतीयों को शस्त्र इत्यादि रखने के लिए लाइसेन्स आवश्यक कर दिए गए और भी अनेक प्रकार के प्रतिबंध भारतीयों पर लगा दिये गए। जिसमें भारतीयों की भावनाएँ विद्रोहपूर्ण हो उठीं। ह्यूम महोदय इन भावनाओं को शांत करने का प्रयत्न करते रहते थे। तत्कालीन हिंदी पत्रों में, उदाहरणार्थ 'भारत मित्र' तथा 'सार सुधानिधि' पत्रों में साम्राज्यवादी नीति तथा भारत पर लादे गए युद्ध-संबंधी ऋण पर आक्षेप हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, प्रेमघन आदि की रचनाओं में हमें उस समय की परिस्थिति का आभास बहुत कुछ मिलता है। इसी समय वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट भी पास हुआ। जनता ने यद्यपि उसका विरोध किया परंतु लार्ड लिटन ने उसकी न सुनी। इस प्रकार देशवासियों के प्रवि एक उपेक्षा का भाव शासन की ओर से प्रकट हो रहा था। इस युग में साहित्यिक राजभक्ति तथा देश-भक्ति को दो विभिन्न

वस्तु समझते थे। अंग्रेजी के कुछ सुधारकों का उनपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था और उससे वे असंतुष्ट थे। परंतु देशभक्ति और राजभक्ति दोनों ही में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने देशी नरेशों तथा जमींदारों के ऊपर आक्षेप किया और उन्हें देश-भक्ति की ओर प्रेरित किया।

लार्ड लिटन के पश्चात् लार्ड रिपन भारत में आये, इनका शासन लार्ड लिटन की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और उदार रहा। इन्होंने स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतीय उनकी उदारता से प्रभावित हुए और भारतेंदु हरिश्चंद्र ने उनकी प्रशंसा में अष्टक लिखा। इलबर्ट बिलके विरोध में भारतीयों ने यह माँग की थी कि भारतीय मजिस्ट्रेट यूरोपियन और अमेरिकन अपराधियों के मुकदमे कर सकें। इसमें सफलता नहीं मिली। भारतीयों को इससे क्षोभ हुआ और उनमें स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई। किंतु फिर भी कांग्रेस की स्थापना से पूर्व बहुत कुछ उदार शासन देश में आ गया था। रिपन का युग गवर्नरों में स्वर्ण-युग माना जाता है। १८८४ ई० में डफरिन वाइसराय हुए और इन्हीं के समय में कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस की स्थापना से पूर्व भी स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय समाजों की स्थापना होती रही थी। बंगाल में ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन, मद्रास में हिंद बाम्बे एसोसियेशन तथा बाद में ईस्ट इंडिया एसोसियेशन, मद्रास में हिंदू तथा महाराष्ट्र में महाजन सभा, बम्बई में बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसियेशन इत्यादि समाजों के द्वारा देश के बड़े-बड़े विद्वान् तथा कार्यकर्त्ता निरंतर अपने विचारों को व्यक्त करते रहे। १८७६ ई० में बंगाल में 'इंडिया एसोसियेशन' की स्थापना हुई। सिविल सर्विस से अवकाश प्राप्त होने पर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने सम्पूर्ण भारतवर्ष की एक संगठित संस्था स्थापित करने का विचार किया। प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उस समय इंगलैंड जाना पड़ता था और उसके लिए १९ वर्ष की आयु निश्चित कर दी गई थी। भारतीयों के लिए यह दोनों बातें कठिन पड़ती थीं इसके लिए आंदोलन करने की प्रेरणा भी सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने दी। ह्यूम महोदय के प्रयत्न से १८८५ में बम्बई में इंडियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन का आयोजन हुआ। इस प्रकार देश की राजनैतिक परिस्थिति के फलस्वरूप राष्ट्रीय कार्यक्रम का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी की प्रतिवादी नीति तथा विरोधी कानून के फलस्वरूप इस आंतरिक चेतना का विकास हुआ और सभा-संस्थाओं के रूप में इस भावना की अभि-व्यक्ति हुई। भारतेंदु युग तथा द्विवेदी युग के कवियों में भी इस प्रकार की सम्पूर्ण राजनैतिक परिस्थितियों की झलक स्पष्टता के साथ मिलती है। राज-

भक्ति और देश भक्ति दोनों का प्रवाह समानांतर चलता दिखाई पड़ता है। युग की सर्वतोमुखी उन्नति वैज्ञानिक आविष्कार इत्यादि की प्रेरणा से साहित्यिक राजभक्ति के भाव से काव्य रचते थे। परंतु परिस्थितियों तथा पराधीनता के प्रभाव से उनमें देशभक्ति की भावना जागृत होती थी जिसके फलस्वरूप वह देशभक्ति का राग गाते दिखाई पड़ते थे। इस समय के कवियों में राष्ट्रीय जागृति के भाव विशेष देखे जा सकते हैं। भारतेंदु, बालकृष्ण-भट्ट, श्रीधर पाठक आदि पत्रकारों और लेखकों में इस प्रकार के विचार प्रचुरता के साथ मिलते हैं। देश की सारी विचार-धारा राजनीति के साथ मिलकर चल रही थी और इस युग में निर्मित साहित्य उससे पूर्णतया प्रभावित है। अतः हमारे आलोच्य कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' भी तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति से पर्याप्त प्रभावित थे। यदि वे पूर्णरूपेण राष्ट्रीय कवि न थे तो यह भी कहना अनुचित होगा कि उनमें राष्ट्रीयता का अभाव था।

आर्थिक परिस्थिति

मनुष्य जीवन के तीन प्रमुख लौकिक लक्ष्य माने गए हैं। धर्म, अर्थ और काम। क्रमानुसार अर्थ का स्थान इनमें द्वितीय है, अतएव उसका महत्त्व उसमें सरलता से समझा जा सकता है। सांसारिक जीवन की सफलता के लिए अर्थोपार्जन नितांत आवश्यक है। सामूहिक दृष्टि से देश की उन्नति उसकी समृद्धि पर निर्भर करती है। संस्कृति और कला का पूर्ण विकास सदैव समृद्ध वातावरण में ही हुआ है। चारण युग का सारा शौर्य तत्कालीन समृद्धि से ही प्रेरणा पाता था। मुगल काल में भी देश की समृद्धि के अवसरों पर ही श्रेष्ठ काव्यों की रचना हो सकी और शृङ्गार युग तो मिश्र-बंधुओं के द्वारा कला का युग ही कहा गया है। आज की आर्थिक विषमताओं ने ही काव्य और कला की ओर से जनसाधारण को विमुख कर दिया है। अतः यदि ऐसा कहें कि देश की साहित्यिक तथा कलात्मक समृद्धि के मूल में अर्थ ही प्रधान है तो अनुचित न होगा।

रत्नाकर जी के आविर्भाव काल की आर्थिक परिस्थिति बहुत कुछ अंग्रेजों की व्यापारिक नीति पर आश्रित थी। डा० लाल के शब्दों में—

"अंग्रेजी राज्य वस्तुतः व्यापारिक वर्ग का राज्य था और इसके फलस्वरूप इस युग में वैश्यवृत्ति और वैश्य-वर्ग का प्रभुत्व स्थापित हो गया, जिससे नवीन साहित्य में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ।"[१]

---

१. 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास'— डा० श्रीकृष्ण लाल

१६ वीं शती का उत्तरार्द्ध पश्चिम में औद्योगिक क्रांति का युग था। इस युग में विदेशी एवं व्यापारिक वृत्तिवाले अंग्रेजों का प्रभुत्व बहुत कुछ स्थापित हो गया था। जब भारतवर्ष का शासन ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के हाथ से इंगलैंड के शासकों के हाथ में आया, अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुसार अंग्रेजों ने भारतवर्ष को युद्ध के दलदल में फँसाकर इससे बार-बार धन वसूल करने आरम्भ कर दिए। बर्मा और सिक्ख युद्धों के फलस्वरूप, जो क्रमशः सन् १८४६ ई० और १८५२ ई० में हुए, भारतवर्ष पर बड़े ही प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव पड़े। इसी के उपरान्त रेल, तार, सड़कों, नहरों इत्यादि का निर्माण हो जाने के कारण छोटे व्यापारियों का व्यवसाय मंद पड़ गया और बड़े-बड़े व्यापारी समुन्नत होने लगे। १८५७ के सिपाही-विद्रोह में भारतवर्ष की विशेष हानि हुई। आर्थिक दृष्टि से सम्पत्ति बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गई। सामंतवर्ग की समृद्धि पतनोन्मुख हुई। प्रदर्शन के लिए वे बड़े-बड़े ऋण लेने लगे। विद्रोह के बाद सैनिकों की आजीविका भी छिन गई। देश में बेकारी फैल गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश पार्लियामेंट का जो समझौता हुआ उसका भी आर्थिक असर भारतवर्ष पर ही पड़ा। भारत को बड़े-बड़े ऋण चुकाने पड़े जिससे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गई। सन् १८५८ में 'बेटर गवर्नमेंट इंडिया ऐक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार भारत का धन उसकी सीमाओं के बाहर नहीं व्यय होना चाहिये था, परंतु बर्मा और अफगानिस्तान के युद्धों में इस ऐक्ट का ध्यान नहीं दिया गया और भारत को ही इन युद्धों का धन-व्यय वहन करना पड़ा। लार्ड कैनिंग तथा लारेंस के गवर्नरी काल में कृषि-सुधार तथा उत्तर-पश्चिम सीमा के नीति-निर्धारण जैसे जनहित के कार्य हुए, परन्तु १८६६ में उड़ीसा में जो दुर्भिक्ष पड़ा उसने जनता को पीड़ित कर दिया। १८६७ में अबीसीनियाँ युद्ध तथा महामारी का प्रकोप साथ-साथ हुआ। १८६६ में फिर दुर्भिक्ष पड़ा, यह लार्ड मेयो का समय था। इन्होंने प्रांतों का विकेन्द्रीकरण किया और उन्हें अलग-अलग कोष प्रदान किए। अर्थ की कमी होने के कारण प्रांतों पर नए कर लगे। कृषकों से उनकी पैदावार का आधा हिस्सा या उससे भी अधिक हिस्सा लिया जाने लगा। उनकी दशा बिगड़ गई। १८६६ में स्वेज नहर का निर्माण हुआ। योरोप का व्यापार बढ़ा और भारत का व्यापार और भी मंद पड़ गया। शिक्षा इत्यादि के लिए स्वतंत्र कर लगाए गए। लगान के निर्धारण की नीति भी बदल गई। गाँवों का लगान निश्चित करने के बाद इलाकों का लगान निश्चित किया जाने लगा। अतः इसमें वृद्धि हो गई। १८७४ में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा। लार्ड नार्थब्रुक, लारेंस तथा लिटन दुर्भिक्षों को सँभालने में सफल

नहीं हुए। इन गवर्नरों की प्रतिक्रियावादी नीति से इनकी साम्राज्यवादिता स्पष्ट लक्षित होती थी और जनता इस साम्राज्यवादिता को चरितार्थ करने का साधन मात्र बन रही थी। १८७७ और ७८ में फिर दुर्भिक्ष पड़ा, इस प्रकार जनता व्याकुल हो उठी। १८७७ के दिल्ली दरबार में देशी नरेशों ने अपनी समृद्धि का आडम्बर प्रदर्शित किया। १८७८ में अफगान युद्ध का व्यय-भार फिर भारतवर्ष के मत्थे आया। १८८० में भी यही स्थिति फिर उत्पन्न हुई। लार्ड रिपन के समय में (१८८० ई०) कृषि-सुधार तथा युद्धों की शांति के कारण देश में कुछ शांति उत्पन्न हुई। यह इस्तमरारी-बंदोबस्त भी करना चाहते थे परंतु उसकी स्वीकृति इन्हें नहीं मिली।

अंग्रेजों की आर्थिक नीति के फलस्वरूप कृषि और उद्योग-धंधे नष्ट हो चुके थे, ऊपर से दुर्भिक्षों की मार थी। दुर्भिक्षों का भीषण परिणाम इतना अनावृष्टि के कारण न होता था जितना अंग्रेजों की आर्थिक नीति से।

संक्षेपतः आर्थिक दृष्टि से यह युग विपत्तियों का युग था। अंग्रेजों की शोषण नीति, उनकी व्यवसाय-संबंधी स्वार्थ-भावना तथा उनका शासन-संबंधी साम्राज्य-वादी दृष्टिकोण जनता के लिए सुख समृद्धि की सिद्धि न कर सका। कृषि-संबंधी कार्यक्रमों के प्रति ये शासक सदैव उदासीन रहे। किसान इस नीति के कारण सदैव ऋणग्रस्त रहे। इसका अधिकांश भाग अंग्रेजों की व्यवसाय सिद्धि पर व्यय होता था। इसी तरह शिक्षा का उद्देश्य दफ्तरों में काम करने की योग्यता प्राप्त करना था। वैज्ञानिक आविष्कार तथा उनका उपयोग भी अंग्रेजों ने अपनी इष्टसिद्धि के लिए भारतवर्ष में किया। अंग्रेजों की शोषण-नीति का शिकार भारतवर्ष उस समय चारों ओर निराशा के ही दर्शन कर रहा था। जनता दुखी थी और सामन्तवादी वर्ग के लोग जो अंग्रेजों की शोषण नीति के माध्यम थे, उसी जनता के उपार्जित धन पर आनन्द मना रहे थे। भारतेंदु जी ने अपने युग की बेकारी का चित्रण अपने नाटकों में सफलतापूर्वक किया है तथा दुर्भिक्ष आदि का चित्रण भी बड़ी ही सफलतापूर्वक किया है।—

तीन बुलावे तेरह आवैं निज निज विपदा रोइ सुनावैं।
आँखी फूटी भरा न पेट, क्यों सखि साजन नहि अंग्रेज॥
संवत उनइस सौ सतरपंजा पड़ा हिन्द में महा अकाल।
घर-घर फाँके होने लागे, दर-दर प्रानी फिरैं बेहाल॥

सामाजिक परिस्थिति

१९ वीं शताब्दी ईसवी का पूर्वार्द्ध हिन्दू-समाज के लिए अस्त-व्यस्त था। मुसलमानों के शासन-काल में उन्हें अत्याचार तथा दासता के दुख भोगने

पड़े थे। अंग्रेजों ने अपनी शोषण नीति द्वारा उन्हें और भी असहाय बना दिया था। अनेक प्रकार के अंध-विश्वास, रूढ़ियाँ तथा कुरीतियाँ उनको घेरे हुए थीं और उनका नैतिक पतन हो रहा था। उनके आदर्श केवल सिद्धांत और उपदेश की वस्तु बन कर रह गये थे। उनको अपने शासकों के सिद्धांत तथा उपदेशों को विवश होकर ग्रहण करना पड़ता था और इस प्रकार उनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार, वेशभूषा इत्यादि एक मिश्रित रूप ग्रहण कर रहे थे। बहुत से सिद्धांत उन्हें अनिच्छापूर्वक भी ग्रहण करने पड़ते थे और इस प्रकार उनकी स्वतंत्र विचारधारा लुप्त हो रही थी।

अंग्रेजों के आगमन के कुछ ही समय बाद देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरम्भ हुआ। मेकाले ने इसे विशेष प्रचार प्रदान किया। राजा राममोहनराय अंग्रेजी शिक्षा के बहुत बड़े समर्थक तथा प्रचारक थे। इस प्रकार इस विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा भारतवासी सात समुद्र पार की संस्कृति आँख मूँद कर ग्रहण कर रहे थे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक उस संस्कृति तथा सभ्यता को ग्रहण करता था वह उतना ही आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से सफल माना जाता था। सिविल सर्विस की परीक्षाओं में सफल होने के लिए अपनी संस्कृति तथा सभ्यता को अधिक से अधिक त्यागना आवश्यक हो गया था। जहाँ तक रूढ़ियों से मुक्त होने का सम्बन्ध है अंग्रेजी शिक्षा ने अवश्य भारतवासियों का किसी हद तक हित किया। किन्तु सम्पूर्ण मर्यादावादी बंधनों को छिन्न करने की प्रवृत्ति जो शिक्षा के कारण उत्पन्न हुई उसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता। उसके कारण समाज में उच्छृङ्खलता की सृष्टि हुई। राजा राममोहनराय के प्रयत्न से सती-प्रथा का उच्छेद तथा विधवा-विवाह-सम्बन्धी कानून का निर्माण पाश्चात्य प्रभाव के हितकर पक्ष कहे जा सकते हैं। किन्तु यह सत्पक्ष इसमें अधिक नहीं था जितना अहितकर प्रभाव। डा० वार्ष्णेय ने उचित ही लिखा है :—

"यह ठीक है कि उस समय सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में न तो पश्चिम से प्रभावित अतिकवियों का अभाव था और न ऐसे व्यक्तियों का अभाव था जो भारतीयता के अनुकूल पश्चिम की अच्छी-अच्छी बातें अपना लेने के पक्ष में थे। किंतु समाज में मध्यकालीन रूढ़ियों की शृङ्खला में जकड़े हुए व्यक्ति की ही प्रधानता बनी रही"[१]

---

१. 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास : डा० वार्ष्णेय. (पृ० ६४)

इस रूढ़िवाद को महारानी विक्टोरिया द्वारा प्रचारित धार्मिक सहिष्णुता के घोषणा-पत्र से और भी अधिक बल प्राप्त हुआ। यातायात के साधनों का निर्माण हो जाने के कारण विदेशी सम्पर्क भी बराबर अपना प्रभाव भारतीयों पर डालता रहा। विदेशी ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क ने यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को हानि पहुँचाई, तथापि भारतीयों के हृदय में एक नवीन चेतना भी जागृत कर दी। वे स्वतंत्रता के मूल्य को पहचान सके और इसी के आधार पर १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के फलस्वरूप भारतीय समाज के नियमों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। हिंदू और मुसलमान उनके हस्तक्षेप से असंतुष्ट थे। मुसलमानों में धार्मिक उत्साह बहुत था और वे अपने धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करना चाहते थे। साथ ही साथ अंग्रेजों ने उनका राज्य छीना था, जिससे वे अंग्रेजों से प्रसन्न नहीं थे। इन्होंने अंग्रेजों के राज्य को दारुल् हरब घोषित किया परन्तु अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से अपने को दारुल् इस्लाम घोषित किया। वे बराबर हिंदू-मुसलमान को आपस में लड़ाने का प्रयत्न करते थे। यही उनके शासन का मूल मंत्र था। मुस्लिम युग में हिंदू-मुसलमान सम्बन्ध बहुत कुछ सौहार्दपूर्ण हो गया था। किन्तु अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से उनको आपस में लड़ा दिया। हिन्दू एक लम्बी अवधि से पद-दलित हो रहे थे। मुसलमानों के समय में ही उनके समाज में कितने अंध-विश्वास घुस चुके थे अब अंग्रेजों के समय में भी अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को बनाए रखने का प्रयत्न हुआ। हिन्दू धर्म-शास्त्र की इस रूढ़िवादिता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न अंग्रेजों द्वारा हुआ, फिर भी नवशिक्षा तथा धार्मिक जागृति के कारण हिन्दूवर्ग ने अपनी त्रुटियों को पहचान लिया था। अनेक सुधारवादी आन्दोलन आरम्भ हो चुके थे। भारतीय अपने गौरव के प्रति सजग थे और अन्य राष्ट्रों के नागरिकों के समान अपना स्थान चाहने लगे थे। शासकों की राजनीति के प्रति इन लोगों की आलोचनात्मक दृष्टि उद्घाटित हुई थी। यद्यपि यह आलोचना या तो परोक्ष होती थी या केवल नम्र निवेदन के रूप में। अपने संस्कारों के अनुसार हिन्दू जनता राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी, इसलिए राजभक्ति को वह अपना धर्म समझती थी।

अंग्रेजों ने उपनिवेश-स्थापना के लिए बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। उन्होंने देश के सम्पन्न व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देकर इन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। बड़े-बड़े राजे-महराजे अंग्रेजों के ऋण के दलदल में

फँस गए और उन्हें उनका आश्रित होना पड़ा। अंग्रेजों ने इसके बदले उनके इलाकों में सैनिक नियंत्रण स्थापित कर दिया। मित्रता के नाते उन्हें यह दासता प्राप्त हुई। इसके बाद अंग्रेजी राज्य में वणिक् वर्ग अंग्रेजी सांस्कृतिक जीवन का आश्रयदाता बना। फलतः साहित्य में इस वर्ग की रुचि, आदर्श एवं आकांक्षाओं का प्रकटीकरण होने लगा। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का साहित्य अधिकांश में इसी वणिक् वर्ग से संबंध रखता है।[1]

जमींदारी के जन्मदाता अंग्रेज ही थे, ज़मींदारों का पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता को ग्रहण करना स्वाभाविक ही था। उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने का यही एक उपाय था। किसान तो अंग्रेजों की शोषण-नीति के कारण सब प्रकार से दलित थे ही। उनकी संस्कृति का विकास तो असम्भव था। परंतु इस दुर्दशा के फलस्वरूप जनसाधारण को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो गया। यातायात के साधनों तथा शिक्षा ने देश में ऐक्य स्थापित किया। जनसाधारण में समानता का भाव तथा रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भावना उत्पन्न हुई। साहित्य में इस प्रकार के विचार तत्कालीन कवियों तथा साहित्यकारों ने प्रचुरता के साथ व्यक्त किए हैं।[2]

इसमें संदेह नहीं कि पाश्चात्य प्रभाव ने भारतीयों को भौतिकवादी बना दिया था। बाह्याडम्बर तथा पाश्चात्य आचार-विचारों से उत्पन्न कुरीतियाँ तो समाज में घर कर गई थीं। मद्यपान इत्यादि पाश्चात्य सामाजिक शिष्टाचार भले ही हों, भारतीय समाज में तो वे कुरीति ही कहे जावेंगे। इस प्रकार के दुर्गुणों की ओर भारतीय जनता सजग हो गई थी और इनके उत्पाटन का प्रयत्न होने लगा था। तात्पर्य यह है कि अपने समाज की रूढ़िगत बुराइयों और पाश्चात्य देश से आई हुई आधुनिक बुराइयों की ओर उस युग का साहित्यकार सचेत था और उनके सुधार के लिए प्रयत्नशील था।

समाज-निर्माण में शिक्षा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस युग में अरबी, फारसी तथा उर्दू शिक्षा ही प्रधान रूप से प्रचलित थी। सस्कृत का

---

१. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास—डा० वार्ष्णेय। पृ० ७५।

२. भारतेंदु हरिश्चंद्र : सब गुरु जन को बुरो बतावे,

अपनी खिचड़ी आप पकावे।

भीतर तत्व न झूठो ढोंगी,

क्या सखि साजन नहि अंगरेजी॥

युग कब का बीत चुका था। तब शिक्षा का आदर्श धार्मिक मात्र था, परंतु यह अब आवश्यक हुआ कि शिक्षा के द्वारा सामान्य ज्ञान की वृद्धि की जाए। अतः शिक्षा-विभाग में परिवर्तन हुए। अंग्रेजों ने यद्यपि पहले धर्म-प्रचार के लिए ही शिक्षा का उपयोग किया था किंतु आगे चलकर उनको शासन में असुविधा होने लगी और उनको अपने दफ्तरों में कार्य करने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देनी पड़ी। यह शिक्षा भारतीयों को मानसिक दासता से उन्मुक्त करने वाली थी। राजा राममोहन राय इत्यादि देश-हितैषियों ने यद्यपि अंग्रेजी-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया, किंतु उनका उद्देश्य देशवासियों को सुशिक्षित तथा उदार बनाना था। वे उन्हें दासता नहीं सिखाना चाहते थे, किंतु दुर्भाग्य से परिणाम उलटा हुआ।

लार्ड हार्डिंज के १८४४ ई० के घोषणापत्र द्वारा सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी आवश्यक हो गई। यद्यपि उन्होंने देशी भाषाओं की शिक्षा का भी काफी ध्यान तथा प्रबंध किया परंतु देशी भाषाओं की उन्नति इसीलिए नहीं हुई क्योंकि एक तो वे सरकारी नौकरियों के लिए अनुपयोगी थीं और दूसरे उनमें अन्य शिक्षा-संबंधी पुस्तकें नहीं थीं। यद्यपि प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा-संबंधी स्कूल खोले गये परंतु उनके द्वारा भी पाश्चात्य विचारों का प्रसार किया जा रहा था। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष में विशेष विद्यालयों की स्थापना हुई। उच्च शिक्षा का प्रसार हुआ, फिर भी शिक्षा का आदर्श भारतीय वातावरण के अनुकूल न बन सका। लिपिकों के अतिरिक्त सम्पूर्ण व्यवसाय छिन्न-भिन्न हो गये। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय अपने पूर्व गौरव को भूलने लगे। धर्म के प्रति इनका विश्वास शिथिल पड़ गया। राजा राममोहन राय जैसे व्यक्ति धर्म का एक सुसांस्कृतिक रूप समाज में चलाना चाहते थे। किंतु वे अपने इस प्रयास में सफल न हो सके। नव-शिक्षित भारतीय अपने को हीन समझने लगा और उसमें एक हीनता का भाव घर कर गया। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा ने समाज को विशेषतया नीचे गिराया, यद्यपि राष्ट्रीय चेतना, रूढ़ियों का उच्छेद, वैज्ञानिक शिक्षा आदि सत्पक्ष भी इस पाश्चात्य शिक्षा के परिणाम थे। किंतु इस शिक्षा ने अधिकांशतः हमें अवनति की ओर ही बढ़ाया। युग के साहित्यकारों ने अपने साहित्य में ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिनके द्वारा प्राचीन गौरव का ज्ञान तथा पाश्चात्य शिक्षा का सत् प्रभाव एकत्र हो सके और इसके द्वारा जनता को पुनर्निर्माण का अवसर मिल सके। वास्तव में इस युग में समाज एक नवीन रूप ग्रहण करने का उपक्रम कर रहा था, जिसमें पर्याप्त अशांति और अव्यवस्था थी। वह संक्रान्ति का युग था और ऐसे युग में अव्य-

वस्था का होना स्वाभाविक ही है। फिर भी देश में नवजागरण के लक्षण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगे थे।

धार्मिक परिस्थितियाँ

१९ वीं शताब्दी में हिंदू-समाज में प्रधानतया धर्म की ही प्रधानता रही, यद्यपि परम्परागत ब्राह्मण-धर्म केवल रूढ़िवादी होकर रह गया था। बाह्याडम्बर बढ़ गया था और धर्म के आंतरिक तत्त्वों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति कम हो गई थी। बड़े-बड़े धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध मंदिरों में कर्मकांड तथा वैभव प्रदर्शन की ओर जितना ध्यान दिया जाने लगा था उतना सात्विक उपासना की ओर नहीं। पुजारियों और पंडों में गुरुडम का भाव जागृत हो गया था और वह विलास और वैभव के दास बनते जाते थे। सामाजिक दृष्टि से धर्म केवल छूआछूत, वर्ण-व्यवस्था, खान-पान के निष्प्राण सिद्धांतों में शेष रह गया था। समुद्र-यात्रा और विदेश-गमन सामाजिक दृष्टि से निषिद्ध ही रहा और इसलिए हिन्दुओं की दृष्टि में उदारता न आ सकी। वे कूपमंडूक बने रहे, सती-प्रथा समाज में प्रचलित थी। मुसलमानों के प्रभाव के कारण भी हिंदू धर्म को बहुत कुछ रूढ़िवादिता ग्रहण करनी पड़ी थी। जैसे-तैसे अपने धर्म-संबंधी सिद्धांतों को लुक-छिप कर पालन कर लेने में ही हिंदू धर्म की रक्षा समझने लगे। संक्षेपतः उस समय का धर्म बहुत कुछ रूढ़िवादी तथा संकीर्ण बन गया था।

अंग्रेजों के आने के साथ-साथ जहाँ भारतीयों में राष्ट्रीय, सामाजिक तथा नैतिक जागृति उत्पन्न हुई, वहाँ धर्म के वास्तविक स्वरूप की ओर भी उनकी दृष्टि गई। ईसाइयों ने हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न किया, इसकी प्रतिक्रिया हुई और अशिक्षित जनता को धर्म-परिवर्तन से बचाने के लिए राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों ने समाज में सुधार करने आरम्भ किए। उन्होंने सन् १८२७ ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उनके उपरान्त केशवचंद्र सेन ने 'ब्रह्म मैरेज ऐक्ट' के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह की स्वीकृति कराई। सेन महोदय ने बाल-विवाह का निषेध कराने का प्रयत्न किया किंतु चूँकि उनकी कन्या का ही विवाह बाल्यावस्था में हुआ इस कारण ब्रह्मसमाजियों में मतभेद उत्पन्न हो गया और 'साधारण ब्रह्मसमाज' के नाम से ब्रह्म-समाज की एक नई शाखा स्थापित हुई। आनंदमोहन वसु इसके नेता थे। यह सारे भारत में प्रचारित हुई। उधर पूना में राना डे महोदय के नेतृत्व में 'प्रार्थना समाज' के नाम से इसी प्रकार का आंदोलन प्रारम्भ हुआ। १८७५ ई०

में आर्य-समाज की भी स्थापना हुई। इस संस्था ने वैदिक संस्कृति की पुनः स्थापना और वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने का प्रयत्न आरम्भ किया। साथ ही समाज-सुधार के प्रयत्न भी आरम्भ हुए। मूर्ति-पूजा तथा अवतारवाद के पक्ष में ये लोग नहीं थे। बहु विवाह इत्यादि को भी समाज से हटाने का प्रयत्न हुआ। आगे इसमें भी दो दल हो गए। एक तो गुरुकुल पंथी, जो ब्रह्मचर्य तथा धार्मिक कृत्यों के लिए वेद को प्रमाण मानते थे, दूसरे कालेजपंथी, जो पाश्चात्य आदर्श ग्रहण करना चाहते थे। स्वामी श्रद्धानंद तथा लाला लाजपत-राय क्रमशः दोनों पंथों के प्रवर्तक थे। श्रद्धानंद जी ने स्थान-स्थान पर गुरुकुलों की स्थापना की।

सन् १८७९ ई० में श्रीमती ऐनीबेसेंट ने भारतवर्ष में थियोसोफी का आदर्श ग्रहण करके, काशी में थियोसोफिकल कालेज की स्थापना की। इसमें सर्व धर्म-समन्वय की भावना थी और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का संदेश स्वीकृत था। पाश्चात्य संस्कृति के ऊपर पूर्वी संस्कृति की इसमें प्रधानता थी। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में भारतीय अध्यात्मवाद का महत्व विशेष रहा और भारत इसका केंद्र बन गया। विदेशों के अनेक विद्वानों ने यहाँ आकर इसके प्रचार के लिए कार्य किया। बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद ने पूर्व और पश्चिम दोनों में ही आत्मवाद का संदेश सुनाया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य सभ्यता यद्यपि अपनी पूर्ण शक्ति से देश में प्रचारित हो रही थी, फिर भी स्वाभिमानी और दूरदर्शी भारतीय अपनी प्राचीन संस्कृति का सुधार करके अपने पूर्व गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि के प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १८८८ में 'भारत धर्म महामंडल' की स्थापना ब्राह्मण-धर्म को सुसंगठित करने के उद्देश्य से पं० दीनदयाल जी ने की। पं० मदनमोहन मालवीय तथा माधव प्रसाद जी मिश्र इसके सदस्य थे।

इस धार्मिक क्रांति के युग में ब्राह्मणधर्म-प्रधान पवित्र काशी में धर्म के उत्थान के लिए प्रयास होना स्वाभानिक ही था। काशी महाराज धर्म-सभा की स्थापना इसी उद्देश्य से हुई। इसके संयोजक तथा कोषाध्यक्ष भारतेन्दु जी नियुक्त हुए। सन् १८७३ ई० में भारतेन्दु जी ने 'अनन्य वीर वैष्णव' की पदवी स्वीकार की। भारतेंदु जी ने वैष्णव धर्म-संबंधी कई लेख भी लिखे और वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए पर्याप्त प्रयास भी किया। भारतेंदु जी श्रीकृष्ण के युगल-स्वरूप के उपासक थे।

इस युग के साहित्यकारों ने अपने युग की परिस्थितियों का बहुत कुछ सच्चा चित्रण किया है, जिसका आदर्श लोकसेवा, अध्यात्मवाद और समाज-सुधार है। उनके साहित्य में धार्मिक प्रवृति का संदेश है। भारतेंदु जी, पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० अम्बिकादत्त व्यास के बीच सुधारवादी तथा परम्परागत पौराणिक धर्म को लेकर वाद-विवाद भी हुआ। फलतः धार्मिक साहित्य-गोष्ठी का निर्माण हुआ। दयानन्द जी के "सत्यार्थ प्रकाश" और "वेदांग प्रकाश" की धार्मिक प्रतिक्रिया में श्री अम्बिकादत्त व्यास जी ने अवतार मीमांसा, दयानन्द पाखंड-विडम्बन आदि लिखे। राधाकृष्ण दास जी ने धर्मलाभ नाटक लिखा जिसमें अन्य धर्मों के समक्ष वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

रत्नाकर जी गौड़ीय माधव सम्प्रदाय के सदस्य थे तथा वैष्णव धर्म की मान्यताओं के समर्थक थे। भारतेंदु की वैष्णवता का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

साहित्यिक परिस्थिति

सन् १८५० ई० से १९०० ई० तक का समय भारतेन्दु युग और उसकी पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। भारतेन्दु का रचना-काल सन् १८६७ से सन् १८८४ ई० तक रहा। १८६७ से पहले एक ऐसा युग रहा जो कि बहुत कुछ प्राचीनता का पोषक था। विषय-शैली तथा भाषा की दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र में बहुत कुछ पुरातनवादिता विद्यमान थी। काव्य रचना ही प्रमुख थी। गद्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतेन्दु युग में साहित्य की नवीन दृष्टि उद्घाटित हुई, युग प्रवृत्ति के कारण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांति हो रही थी। अतः साहित्य-क्षेत्र में भी नवीन विषय, नवीन विचारधारा, नवीन शैली तथा भाषा ग्रहण की जा रही थी। साहित्यकार देश की सर्वतोमुखी उन्नति करना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने अनेक प्रकार की साहित्य-शैलियों को ग्रहण किया, फलस्वरूप आधुनिक काल में जो परिवर्तन हुए उनका सूत्रपात इसी युग में हुआ, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। डा० लाल के शब्दों में:—

"हिंदी साहित्य का आधुनिक काल विकास और परिवर्तन का युग है। हमारे साहित्य के इतिहास में ऐसा एक भी युग न था जिसने इतने बहुमुखी विकास और इतनी प्रचुर प्रतिभा का परिचय दिया हो। इस काल में प्रत्येक विभाग का विकास और प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुए कि इसे साहित्यिक क्रांति का युग कह सकते हैं। इस काल की प्रमुख विशेषता साहि-

त्यिक रूपों और प्रवृत्तियों की विविधता है। सामान्यतया उन नवीन कृतियों का विभाजन इन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :—

१. व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का ग्रहण।

२. काव्य विषय, छंद, अभिव्यंजना शैली तथा विधान में परिवर्तन।

३. गद्य तथा उसके विविध अंगों कहानी, नाटक, उपन्यास, समालोचना, गद्य काव्य आदि का विकास।

४. सामयिक-साहित्य का आरम्भ तथा विकास।

५. पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार।'

उपर्युक्त सभी प्रकार के साहित्यांगों का आरम्भ तो भारतेंदु युग में ही हो चुका था। आधुनिक युग में इनकी विशेष उन्नति हुई परंतु इनमें प्राचीन विचारों तथा शैली की झलक बहुत कुछ विद्यमान रही। भक्ति और श्रृङ्गार अथवा वीरत्व-व्यंजक कविताओं की रचना परम्परागत शैली में तथा काव्य-भाषा व्रज-भाषा ही रही। किंतु इतने पर भी देश-भक्ति, समाज-सुधार, जनहित, मातृभाषा का महत्त्व आदि विषयों को लेकर काव्य-रचना होने लगी। स्वयं भारतेंदु जी ने ऐसे विषयों पर बहुत कुछ लिखा था। वे इन सम्पूर्ण नवीन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। परिवर्तन उपस्थित करने का श्रेय प्रधानतया उन्हीं को है।

आधुनिक युग में काव्य-विषय नवीन हुए। सामाजिक ज़ीवन से संबंध रखने वाले विषय ग्रहण किए गए। समाज के पुनर्निर्माण के लिए उसे उसकी बुराइयों का दिग्दर्शन कराया गया। इतिहास, राजनीति, दर्शन तथा समाज-सुधार-संबंधी कितने ही विषय इस युग के कवियों ने ग्रहण किए और उन पर उद्बोधन से पूर्ण कविताओं की रचना की गई। रामकृष्ण वर्मा, प्रतापनारायण-मिश्र, श्रीधर पाठक इत्यादि कवियों ने इस प्रकार की बहुत-सी कविताएँ रचीं। प्राचीन परम्परा की कविताएँ भी साथ-साथ चलती रहीं और उनमें भी पर्याप्त सुधार हुए। भक्ति, श्रृङ्गार तथा वीर रस की कविताएँ इस प्राचीन परम्परा से विशेष संबंध रखती हैं और उनके लिए कवियों ने नवीन विषय भी खोज लिए। डा० वार्ष्णेय के शब्दों में—

"विषय की दृष्टि से भारतेंदु जी की कविता बहुत कुछ आगे बढ़ गई परंतु पूर्ववर्ती रीतिकालीन काव्य का काव्य-सौन्दर्य न आ सका।"[1]

---

१. पृ० १२ आ० हि० सा० का इतिहास।

वास्तव में प्राचीन शैली पर रचा हुआ काव्य रीति-कालीन काव्य के समान ही सुन्दर बंन पड़ा है। यह बात अवश्य है कि नवीन विषयों में वह काव्य-सौन्दर्य न आ सका जो रीतिकालीन काव्य-विषयों को लेकर कवि उत्पन्न कर देते थे। कला की दृष्टि से रीतिकालीन पद-शैली में कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, दोहा, चौपाई आदि का प्रयोग तो मिलता ही है, साथ ही संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग प्रचलित होता दिखलाई पड़ता है। समस्या-पूर्ति इस युग की एक विशेष कला थी। गीत-काव्य का आविर्भाव पाश्चात्य लीरिक के प्रभाव से हुआ। पद-शैली हिन्दी में परम्परागत थी। प्रबन्ध काव्य इस युग में प्रायः नहीं लिखे गए। इस युग में गीत काव्य, मुक्तक अथवा निर्बन्ध काव्य की रचना विशेष रूप से हुई। इन कविताओं में प्रायः सभी रसों का परिपाक दिखाई पड़ता है। श्रृंगार और हास्य प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। हास्य में कुछ नवीन उदाहरण के आलम्बन भी आ गए। आश्रयदाता के स्थान पर राष्ट्रीय नेता अथवा ऐतिहासिक महापुरुष नायकत्व ग्रहण करने लगे।

साहित्य के क्षेत्र में नवीन विचार-धारा और भाव स्थान ग्रहण कर रहे थे। कल्पना का प्रसार उन्मुक्त रूप में हो रहा था। केवल रूढ़ि में बँधे हुए क्षेत्र तक ही अब उसकी सीमा रह गई थी। परम्परा से प्रचलित उपमान अब उतने प्रिय नहीं रह गए थे और उनके स्थान पर नवीन उपमाओं का ग्रहण स्वतंत्रता-पूर्वक किया जा रहा था। प्रकृति के प्रति कवियों की दृष्टि विशेष सजग हुई।

काव्य-भाषा इस समय तक व्रजभाषा ही रही है। किन्तु खड़ी बोली की ओर कवियों का झुकाव हो चला था। फिर भी गद्य-रचना खड़ी बोली में और पद्य व्रजभाषा में ही लिखा जा रहा था। यह भाषा-भेद लोगों को अधिक रुचिकर नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस ओर विशेष प्रयत्नशील थे। उन्होंने इस प्रकार की तुकबन्दियाँ आरम्भ कर दी थीं जिनसे खड़ी बोली कविता का सूत्रपात होता है। इस प्रकार से उन्होंने इन पद्यों के द्वारा प्रयोग आरम्भ किए थे। इनकी एक तुकबन्दी सन् १८८१ में १ सितम्बर के 'भारत मित्र' में छपी थी, जो इस प्रकार है।

खोल खोल छाता चलैं, लोग सड़क बीच।
कीचड़ में जूता फँसै जैसे सभ्य में नीच॥

यह तुकबन्दी उन्होंने प्रयोगात्मक रूप में लिखी थी। उन्होंने सम्पादक को यह भी लिखा था—

"प्रचलित साधुभाषा में यह कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य-सौंदर्य बन सकता

है। इस संबंध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का प्रयत्न करूँगा।"[१]

श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा आदि कवियों ने इस नवीन परिपाटी को अपना लिया, यद्यपि पं० प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि कवि प्राचीन शैली को अपनाए हुए थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि १६ वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक खड़ी बोली के पदों में विशेष प्रौढ़ता तथा काव्य-सौंदर्य का समावेश नहीं हो सका।

पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ना आरम्भ हो गया था। इसके फलस्वरूप दृष्टि में व्यापकता तथा उदारता आ गई थी। समाज और साहित्य का स्थायी संबंध स्थापित होने लगा था, रूढ़ियों की उपेक्षा कर वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक जीवन की ओर दृष्टि उन्मुख हो चली थी। नवीन और पुरातन का मिश्रण इस युग में दृष्टिगत होता था। वास्तव में इस युग की साहित्य-सृष्टि, भाव एवं कल्पना के गगन में विहार करनेवाली रीतिकालीन कविता और जीवन तथा कर्म में विश्वास करनेवाले यथार्थवादी आधुनिक साहित्य की कड़ी है।......"भारतेंदु की कविताओं में श्रृङ्गार और स्वदेश-प्रेम, राधाकृष्ण की भक्ति और टीकाधारी मायावी भक्तों का उपहास, प्राचीनता और नवीनता एक साथ है।"[२]

उपर्युक्त कथन विरोधी-सा प्रतीत होता है किंतु वास्तव में स्थिति यही थी। विविधता ही युग की विशेषता थी। कवि कल्पना-लोक से पृथ्वी पर उतर रहे थे। राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर वे नवीन विषय ग्रहण कर रहे थे और जीवन-संबंधी संवेदनात्मक काव्य की रचना कर रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्पर्क में जाने के कारण भारतीयों को अपने गौरव का ज्ञान हो रहा था। वे भविष्य के आशापूर्ण स्वप्न देखने लगे थे। उस स्वप्न को सत्य बनाने की आकांक्षा उनके हृदय में बलवती हो उठी थी और उसके लिए उन्होंने निरंतर प्रयास आरम्भ कर दिए थे।

भारतेंदु युग के पहले प्रायः काव्य रचना की ही प्रधानता रही। गद्य का लेखन केवल ग्रन्थों की टीका के रूप में प्राप्त होता है अथवा फिर भारतेंदु युग

---

१. भारतेन्दु युग, डा० रामविलास शर्मा, पृ० १६८ से ६६।

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयभान सिंह

के आरम्भ में समाचार-पत्रों में गद्य का व्यवहार होने लगा। साहित्य-क्षेत्र में भी गद्य का आरम्भ प्रधानतया भारतेन्दु जी की ही देन है। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंधों आदि की रचना गद्य-क्षेत्र में प्रचुरता के साथ होने लगी। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने नाटक-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि नाटक साहित्य का एक श्रेष्ठ अंग है, साथ ही प्रचार का एक अच्छा साधन भी। भारतेंदु के पिता गिरधरदास ने 'नहुष' नाम का एक नाटक १८५६ ई० में लिखा और इसके उपरान्त भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अनेक श्रेष्ठ नाटक लिखे। भारतीय साहित्य में नाट्य-परम्परा को बहुत बड़ी निधि उपलब्ध थी। इसी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में नाटक की इतनी कमी नहीं थी जितनी हिंदी में। इस कमी को पूरी करने की आकांक्षा भारतेन्दु के समय से उत्पन्न हुई और उन्होंने संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी से अनुवाद किए और मौलिक नाटक भी लिखे। बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन", किशोरीलाल गोस्वामी, श्री निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि कितने ही लेखकों ने इस समय समाज के लिए उपयोगी नाटकों की रचना की। यद्यपि इनमें से बहुत से नाटक ऐसे भी थे जिसमें अभिनयात्मकता का ध्यान नहीं रखा गया था। यह नाटक पाश्चात्य तथा संस्कृत दोनों शैलियों से प्रभावित थे। उस समय पारसी थियेटर कम्पनियों का जोर था और ये कम्पनियाँ जनता की रुचि को बिगाड़ रही थीं। इस कारण भी भारतेन्दु जी तथा उनके साथियों ने नाटक की ओर विशेष ध्यान दिया। पारसी नाटकों की भाषा बहुत कुछ उर्दू-प्रधान होती थी, फलतः उस समय के नाटकों में भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। संक्षेपतः नाटक का उत्थान इस युग में बड़े उत्साह के साथ आरम्भ हुआ था, परन्तु उसके स्वरूप में अभी स्थिरता नहीं आई थी।

उपन्यास-कहानी

उपन्यास की रचना का आरम्भ यद्यपि इस युग में हो गया था किन्तु उसका स्वरूप नाटक से भी अधिक अस्थिर था। इंशा द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जा सकता है। इसमें उपन्यास तथा कहानी दोनों के तत्व प्राप्त होते हैं। सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' भी कहानी शैली की रचना है। भारतेन्दु युग में लाला श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी आदि लेखकों ने उपन्यासों की रचना की। जिनमें से कुछ तो अनूदित हैं और कुछ मौलिक। इस युग में उपन्यासों पर 'सहस्र रजनी चरित्र' की रहस्यमयी शैली का प्रभाव

लक्षित होता है। देवकीनंदन खत्री के ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास इसी श्रेणी में आते हैं। बँगला का प्रभाव भी इस युग के उपन्यासों पर विशेष दिखलाई देता है। पारिवारिक वातावरण तथा उनके द्वारा समाज-सुधार की प्रवृत्ति इन उपन्यासों में मिलती है। ऐयारी तथा जासूसी उपन्यास इस युग की विशेषता है। किन्तु ये उपन्यास अधिकांशतः कौतूहलप्रधान हैं। दूसरी ओर सामाजिक उपन्यासों में आदर्शवादिता इतनी अधिक है कि वे केवल सिद्धांत प्रतिपादन के लिए लिखे जान पड़ते हैं। संक्षेपतः इस युग के उपन्यास-साहित्य की स्थिति भी साधारण ही थी। वास्तव में साहित्य के इस अंग का अभी विकास होना आरम्भ ही हुआ था।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शासन की कूटनीति के कारण उर्दू को ही प्रधानता प्राप्त हो गई थी। अदालतों और शिक्षा-संस्थाओं में इसका प्राधान्य हो गया था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने अपनी दूरदर्शिता के कारण देवनागरी लिपि में हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली शब्दावली का प्रयोग आरम्भ कराया और भाषा के इसी रूप को उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं में भी स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। किंतु भारतेन्दु जैसे हिंदी-प्रेमी को यह बात सह्य न हुई और उन्होंने इसका विरोध किया। भारतेन्दु ने अपने निरन्तर प्रयास से हिंदी को समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। साहित्य के विभिन्न अंगों को इन्होंने परिपूर्ण किया और गद्य लेखन के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन द्वारा भी इन्होंने गद्य-प्रचार का प्रयत्न किया। भारतेन्दु-मण्डल का उत्साह बहुत प्रबल रहा। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरी नारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, पं० सुधाकर द्विवेदी इत्यादि भारतेंदु के सहयोगियों और अनुयायियों ने हिंदी की निःस्वार्थ भाव से सेवा की और गद्य-साहित्य के प्रचार में योग दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी हिंदी के ही माध्यम से धर्म-प्रचार किया। इन सब लेखकों की भाषा विशेष परिमार्जित नहीं थी किंतु प्रारम्भिक भाषा के रूप में बहुत कुछ समर्थ कही जा सकती है। आगे आने वाले लेखकों के लिए वह पथ-प्रदर्शिका बन गयी।

ना० प्र० सभा और महामना मालवीय जी के प्रयत्नों से १८ अक्टूबर १९०० ई० में हिंदी भी अदालत की एक भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। किन्तु इसे विशेष व्यावहारिकता प्राप्त नहीं हुई।

निबन्ध एवं आलोचना

इस युग के साहित्य में निबंध का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। पत्र-पत्रिकाओं में निबंध ही विचार-व्यंजना का प्रमुख माध्यम बनता है। अतः इस युग में

प्रायः सभी लेखकों ने निबंध को ही प्रधानता प्रदान की। डा० उदयभानु सिंह का यह कथन बहुत ही उपयुक्त है—"उस युग के फक्कड़, हास्यप्रिय, मिलनसार और सजीव लेखकों ने पाठकों के प्रति भिन्न रूप और मूलकंठ से अपनी भावाभिव्यक्ति करने के लिए कविता, नाटक या उपन्यास की अपेक्षा निबंध को ही अधिक श्रेयस्कर माध्यम समझा।"[1]

वास्तव में यह युग आंदोलनों, सभा-समाजों और व्याख्यानों का युग था। आवश्यकता थी कि इस युग में ऐसे साहित्यिक माध्यम ग्रहण किए जायँ जो इस उद्देश्य के लिए उपयुक्त प्रमाणित हों। यद्यपि इस युग के निबंधों में न तो भाषा और शैली का संगठन है और न वे सुसंस्कृत ही हैं, किंतु लेखकों के हृदय की गहरी भावना और वास्तविक प्रयास इन निबंधों में बड़ी स्पष्टता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। लेखकों की उदार तथा व्यापक दृष्टि का आभास हमें इन निबंधों में स्पष्ट रूप से मिलता है। समाज, धर्म, राजनीति और व्यक्ति सभी विषयों और क्षेत्रों को लेकर लेखकों ने सुधार के उद्देश्य से व्यंग-विनोदपूर्ण तथा मार्मिक कथन दिए हैं। लेखकों की निर्भीकता तथा उनकी सचाई का बहुत स्पष्ट आभास इन लेखों में मिलता है और निबंधों का प्रमुख तत्व व्यक्तित्व की प्रधानता जितनी इन निबंधों में झलकती है उतनी सम्भवतः आगे के निबंधों को प्राप्त नहीं हुई।

निबन्ध का उपयोग जहां एक ओर अपने विचारों का प्रचार करने के लिए हुआ वहां दूसरी ओर उसका उपयोग साहित्यिक आलोचना के लिये भी किया गया। साहित्यिक आलोचना के रूप में इस युग में केवल खण्डन मण्डन का ही विशेष प्रचार देखा गया है। गद्ययुग के आगमन के साथ विचारों को स्पष्टरूप में अभिव्यंजित करने की प्रवृत्ति प्रबल हुई और आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध तथा ग्रन्थ रचे जाने लगे। भारतेन्दु युग में इनका सूत्रपात हुआ था। बदरीनारायण चौधरी ने लाला श्रीनिवासदास रचित नाटक संयोगिता-स्वयंवर की विस्तृत आलोचना की थी। इस प्रकार आलोचना का क्रमिक विकास इस युग में आरम्भ हुआ। भारतेन्दु युग की आलोचना के बाद द्विवेदी युग में तो आलोचना का स्पष्ट एवं क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है। आलोचना और सिद्धांत सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होने लगी। अंग्रेजी से सिद्धांत सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद भी हुआ। पोप के 'ऐसेज़ आन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद रत्नाकर जी ने 'आलोचनादर्श' के नाम से किया था।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० १५।

हिन्दी काव्य की प्राचीन परम्परा को मुख्य पाँच धाराओं में बाँटा जा सकता है। प्रथम वीर काव्य की धारा प्रायः ११ वीं-१२ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर आज तक किसी न किसी रूप में चलती आ रही है। हिन्दी के आदि-काल में यह धारा प्रबल वेग से आगे बढ़ी। परन्तु भक्तिकाल, रीतिकाल और भारतेन्दु-युग में यह धारा शिथिल होती गई। बीसवीं शताब्दी में फिर वीर रस की धारा का वेग कुछ बढ़ चला।

दूसरी निर्गुण-काव्य की धारा नामदेव और कबीर के समय से प्रायः १३ वीं-१४ वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। १५ वीं-१६ वीं शताब्दी में इसका अच्छा प्रचार हुआ और नानक, दादू आदि संतों से इस धारा को बड़ा बल मिला। परन्तु १७ वीं शताब्दी से इसकी धारा क्षीण होने लगी और अब तक प्रायः क्षीण ही चली आ रही है।

हिन्दी काव्य की तीसरी धारा प्रेमाख्यानक काव्यों की है। जो प्रायः १४ वीं शताब्दी से, नूर व चंदा के प्रेमाख्यानों से प्रारम्भ होती है। १७ वीं शताब्दी में कुतुबन, जायसी आदि की रचनाओं से यह काव्य-धारा बड़ी लोक-प्रिय हो चली। प्रेमाख्यान अधिकांश मुसलमान कवियों ने ही, दोहा एवं चौपाई की शैली में लिखे। कुछ हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यानों का भी पता चलता है। आधुनिक-युग में प्रेमाख्यान की यह धारा बहुत शिथिल हो गई।

सगुण भक्ति-काव्य का आरम्भ हिन्दी में १४ वीं-१५ वीं शताब्दी से बड़े वेग से हुआ और इस धारा में हिन्दी के श्रेष्ठतम कवि सूर, तुलसी, विद्यापति, मीरा, हित हरिवंश, हरिदास, नाभादास आदि ने इस रस की अपूर्व सृष्टि की। तुलसीदास जी के उपरांत इस धारा का वेग कुछ शिथिल पड़ गया। परन्तु आज भी यह हिन्दी की प्रमुख धारा है। आधुनिक युग में भारतेन्दु, रत्नाकर, सत्यनारायण 'कविरत्न', हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त आदि भक्त कवि इसी परम्परा में आते हैं। हिन्दी की यह धारा बड़ी सजीव एवं लोकप्रिय रही है।

शृङ्गार की परम्परा

शृङ्गार रस की परम्परा साहित्य में अत्यन्त प्राचीन है। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि शृङ्गार की परम्परा का आरम्भ जीवन के साथ हुआ। जिस प्रकार जीवन में शृङ्गार की भावना अपना प्रमुख स्थान रखती है उसी प्रकार साहित्य में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में भी

में आता है। पृथ्वीराज रासो, आल्हखंड, बीसलदेव रासो इत्यादि इस युग के श्रेष्ठ काव्य, शृङ्गार की भावना से परिपूर्ण हैं। भक्तिकाल में भी कबीर और जायसी जैसे निगुर्णवादी कवियों ने अनेक शृङ्गारिक रूपकों के द्वारा अपने भक्ति-सम्बन्धी उद्‌गारों को व्यक्त किया था। भक्ति-परम्परा के कवियों ने भी शृङ्गार रस का पर्याप्त समावेश अपने काव्य में किया। मधुर भक्ति का तो आधार ही शृङ्गार भावना है, परवर्ती भक्ति-साहित्य जिससे ओत-प्रोत है। इस प्रकार शृङ्गार की यह परम्परा अपना बड़ा व्यापक रूप लेकर हमारे सम्मुख आती है।

भक्ति युग का काव्य प्रधानतया भावुकता को लेकर चला था। भक्त कवि भगवान् के प्रति अपनी आन्तरिक रागात्मक भावना को व्यक्त करना चाहता था। उस अभिव्यंजना में यह काव्य के बाह्य रूप की ओर इतना ध्यान नहीं देता था, तात्पर्य यह है कि उसका काव्य अनुभूति-प्रधान था, कला-प्रधान नहीं। कृष्ण काव्य की परम्परा यद्यपि भक्ति के ही मूलाधार को लेकर चली थी किन्तु कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओं के चित्रण में शृङ्गार का भाव ही प्रमुख दिखलाई देता था। भक्ति तो केवल उन्हीं हृदयों तक सीमित रह जाती थी, जो उसके वास्तविक तत्त्व का अनुभव कर सकते थे। अतएव हिंदी साहित्य में शृङ्गार युग का आरम्भ तो कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का आदर्श लेकर चला था परन्तु क्रमशः परवर्ती कवियों में भक्ति की भावना स्थूल ऐन्द्रियता की ओर विशेष झुक गई। इस प्रकार काव्य में मानव-वृत्तियों की प्रधानता हो उठी। भक्ति युग के अनुयायी रीतिकालीन कवियों का आदर्श काव्य के द्वारा आत्मतुष्टि मात्र था। कवियों का एक वर्ग आजीविका की खोज में अनेक राजा-महाराजाओं के दरबारों का आश्रय ग्रहण करता था। चन्द, जगनिक आदि कवि भी इसी वर्ग के थे। विद्यापति जैसे भक्तकवि ने भी महाराजा शिवसिंह तथा महारानी लखिमा देई के नाम का बार-बार उल्लेख करके उनके प्रति अपनी आदर-भावना प्रकट की है। इन्हीं के दरबार में रहकर इनकी जीविका चली थी। शृङ्गार युग के कवि प्रधानतया दरबारी थे। केशव-दास इसके प्रथम उदाहरण कहे जा सकते हैं। आगे के सभी कवि इसी दरबारी प्रवृत्ति को लेकर चले, जिसका परिणाम आश्रयदाताओं की भूरि-भूरि प्रशंसा के रूप में प्रकट हुआ। आश्रयदाताओं को नायकत्व प्राप्त हो गया और उनके अनेक लीला-विलासों का वर्णन कृष्ण-कन्हैया के समान किया जाने लगा। उनका शृङ्गार का वर्णन बहुत कुछ अमर्यादित तथा अश्लील भी हो उठा। इस प्रकार के वासनामय शृंगार का वर्णन कृष्ण के जीवन पर आरोपित

होकर साहित्य में कुरुचि का संचार करने लगा, जिसके कारण समाज नैतिक पतन की ओर उन्मुख हुआ।

यह तो भक्ति का शृंगारी भावनाओं में परिवर्तित होने का कारण हुआ। शैली की दृष्टि से संस्कृत काव्य-शास्त्रियों का अनुकरण क.ने की ओर हिन्दी कवियों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। कवि-समाज भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। भाषा का संस्कार भक्तियुग के कवियों ने भी बहुत कुछ कर लिया था। शृंगार काल तक पहुँचते-पहुँचते उसका बहुत कुछ संस्कार हो चुका था और वह कोमल से कोमल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव की योजना-अभिव्यंजना करने में समर्थ हो चुकी थी। शृंगार युग में जिस प्रकार की रसपूर्ण काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में होने लगी इसका कारण देते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस प्रकार कहते हैं :—"दो प्रकार से इस प्रकार के सरस पद्यों की रचना की योजना मिली, पहले अलंकारों के लक्षणों पर कवित्व करके और फिर नाट्य-विवेचना के रसनिरूपण के एक अत्यन्त समान पर महत्वपूर्ण अंग नायक-नायिका के नाना भेद-उपभेदों की सृष्टि करके और उनके लक्षणों पर उदाहरणों की रचना करके। दूसरी बात की ओर कवियों की प्रवृत्ति अधिक रही।"[१] इस प्रकार इस प्रणाली की ओर झुकने के कारण शृंगार काव्य में 'रीति-शैली' का आविर्भाव हुआ।

संस्कृत साहित्य के विभिन्न आचार्यों के मतानुसार साहित्य क्षेत्र में अनेक सैद्धांतिक सम्प्रदायों का प्रचार हो गया था—रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय तथा औचित्य संप्रदाय। अलंकार-शास्त्र का अनुकरण कर चलनेवाले कवियों की संख्या कहीं अधिक थी। इसमें शैली की दृष्टि से विशिष्ट पद-रचना का प्राधान्य होने के कारण शृंगार युग का नाम रीतिकाल पड़ गया। वास्तव में काव्य गुणों पर आश्रित रचना-चमत्कार ही इस युग की कविता का विशेष लक्षण है। इसी के द्वारा काव्य में रस की सिद्धि स्वीकार की गई और इस कारण इस युग के काव्य का नाम रीतिकाव्य पड़ गया। यहाँ पर रीतिकाव्य का संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित न होगा।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११८।

रीति संप्रदाय

रीति सम्प्रदाय के जन्मदाता आचार्य वामन थे, जिन्होंने विशिष्ट पद-रचना को रीति कहा और पद रचना को गुणों के ऊपर आश्रित माना। गुण उनके अनुसार काव्य को शोभित करनेवाले धर्म हैं और यह गुण ही स्थायी तत्त्व हैं। अतः दोषों का निवारण करते हुए गुणों और अलङ्कारों के ग्रहण से ही काव्य में सुन्दरता उत्पन्न होती है। आगे चलकर दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से थोड़ा परिवर्तन कर दिया, उन्होंने अलङ्कार तथा गुण दोनों को ही काव्य के लिए आवश्यक मान लिया। उन्होंने सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति के लिए सुन्दर शब्दावली का प्रयोग आवश्यक माना और इसी शब्दावली के उपयोग को उन्होंने रीति कहा।

रीति सम्प्रदाय के पूर्व रस सम्प्रदाय तथा अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रचलन हो चला था। भरत का नाट्यशास्त्र रस-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम ग्रन्थ था। इसमें कविता का मूलधार रस ही स्वीकार किया गया था। किन्तु आगे चलकर उद्भट और रुद्रट आदि अलङ्कार-शास्त्रियों ने केवल अलङ्कार को ही काव्य की आत्मा माना और काव्य में इसी की स्थिति को प्रमुख स्वीकार किया। रस पद्धति को उन्होंने केवल नाटक के उपयुक्त माना, काव्यालोचना के लिए उन्होंने अलङ्कार को ही कसौटी स्वीकार किया। वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को भी उन्होंने अलङ्कार रूप में ही स्वीकार किया। हिन्दी में केशव इस सम्प्रदाय से सबसे अधिक प्रभावित रहे।

रस और अलङ्कार के उपरान्त रीति सम्प्रदाय आया, जिसमें गुणों को प्रधानता मिली। 'रीति' शब्दों के नियमित और संघटित प्रयोग को कहते हैं। गुणों के अस्तित्व से ही रीति की प्रतिष्ठा होती है[१]। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय में अलङ्कार सम्प्रदाय से अधिक उदारता मिलती है। इसमें गुणों का समावेश इसको विशेष व्यापकता प्रदान करता है। यद्यपि यह सत्य है कि गुणों का स्वरूप बहुत कुछ व्यक्तिगत होता है और वैयक्तिकता काव्य में कवि का प्राधान्य स्थापित कर देती है, किन्तु फिर भी प्रान्त विशेष के निवासियों की शैली बहुत कुछ एक ही प्रकार की होती है। इन शैलियों में रस, अलङ्कार और गुण का सुन्दर समन्वय हुआ। वैयक्तिक तथा परम्परागत कलाओं के समन्वय से शैली में प्रौढ़ता उत्पन्न हुई।

---

१. हिंदी साहित्य, बाबू श्यामसुंदर दास, पृ० ४४७

ध्वनि संप्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय का ही व्यावहारिक रूप था, जिसने अलङ्कार, रीति और गुणों को उनके उचित स्थान पर नियुक्त किया। फुटकर पदों में रस-निष्पत्ति के लिए रस सम्प्रदाय ने कोई मार्ग नहीं निर्दिष्ट किया था। ध्वनि सम्प्रदाय में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि सत् काव्य में चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। इस प्रकार स्फुट छन्दों में भी रस की स्थिति सुगमतापूर्वक प्रमाणित की जा सकती है। ध्वनिवादी उस काव्य को व्यर्थ मानता है जिसमें रस-सिद्धि नहीं होती और अलङ्कार, गुण इत्यादि को वह रस-सिद्धि में सहायक मात्र मानता है। इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय काव्य-समीक्षा की एक महत्वपूर्ण शैली बन गया।

उपर्युक्त परम्पराओं पर दृष्टि डालने के उपरांत यह कहा जा सकता है कि रीति युग का आरम्भ एक प्रकार से केशव जैसे अलंकारवादियों से ही हुआ। चतामणि, भूषण तथा मतिराम का स्थान रीतियुग में महत्वपूर्ण है। चिंतामणि तथा मतिराम दोनों ही रसप्रधान रचना के लिए प्रसिद्ध हैं। मतिराम का भाषा-सौष्ठव, प्रसाद तथा माधुर्य गुण प्रशंसनीय हैं। विहारी का स्थान रीति-युग में बहुत ऊँचा है। वे दोहों की कारीगरी तथा 'बात की करामात' के लिए प्रशंसित रहे हैं। सौंदर्य और प्रेम के मनोरम चित्र उनके काव्य में मिलते हैं। प्रधानतया वे अलंकारवादी कवि थे। कविवर देव अपनी मौलिक उद्भावनाओं, सौंदर्यप्रिय प्रवृत्ति, तन्मयता, व्यापकता तथा आध्यात्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। वे बहुत ऊंचे रसवादी तथा ध्वनिवादी कवि हैं। दास जी (भिखारीदास) श्रेष्ठ आचार्य हैं। वे श्रेष्ठ कवि भले ही न हों परंतु उनमें आलोचना वृत्ति पूर्णतया विकसित थी और इस युग के अंतिम श्रेष्ठ कवि थे पद्माकर। भाषाधिकार, अनुप्रासप्रियता, चित्रण शक्ति तथा प्रवाह की दृष्टि से पद्माकर बहुत ही प्रौढ़ कवि प्रमाणित हुए हैं। कविवर रत्नाकर इन्हीं को आदर्श मानकर चलते रहे। आलम, घनानंद, बोधा, ठाकुर, लछिराम, सेवक इत्यादि कुछ ऐसे कवि भी हुए जो ध्वनिवाद तथा मुक्त रसवाद के आधार पर काव्य रचना करते रहे। इन सबका समन्वित भाव लेकर रत्नाकर जी ने जैसे इस युग के उपसंहार के रूप में अपने काव्य की रचना की है।

शृंगार काव्य की परम्परा का साहित्य में आरम्भ प्रथम शताब्दी ईसवी से क्रमबद्ध रूप में माना जा सकता है। प्राकृत में रचित हाल की सत्तसई में अनेक ऐसे चित्र मिलते हैं जो भक्ति अथवा आध्यात्मिकता अथवा शास्त्रीयता से कोई संबंध नहीं रखते, वरन् जिनका सम्बंध केवल लोक-जीवन के मधुर

चित्रों से है।[1] इन्हीं दृश्यों के चित्रण से नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु अथवा अलंकार परम्परा का आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से हाल की 'सत्तसई' तथा गोवर्धनाचार्य रचित 'आर्या-सप्तशती' में प्रेम काव्य के सुन्दर चित्र मुक्तक छंदों में मिलते हैं। नायिकाओं के स्वभाव, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि का चित्रण ही नायिकाओं के स्वभाव, आयु तथा परिस्थिति संबंधी भेदों की स्थापना का मूल आधार माना जा सकता है। इस प्रकार के चित्रणों का शास्त्रीय तथा विकसित रूप भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। रंगमंच पर अभिनय करनेवाले नटों की वेशभूषा, उनके सांगोपांग अलंकरण तथा अंगों के सौंदर्य का विश्लेषण नाट्य-शास्त्र में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ वैष्णव-भक्ति परम्परा के आधार पर रचित भक्ति संबंधी "उज्वल नीलमणि" जैसे ग्रंथों में भी गोपिकाओं के स्वभाव तथा सौंदर्य का वर्णन करते हुए भक्तों ने नायिका भेद का ही सहारा लिया है। इस प्रकार यह परम्परा एक ओर तो केशव जैसे अलंकारवादियों के माध्यम से सीधी आचार्यत्व परम्परा को लेकर हिंदी-साहित्य में आई, दूसरी ओर सूर के माध्यम से भक्ति संबंधी परम्परा को ग्रहण करके नायिका भेद ने राधा-कृष्ण का आलंबन लिया और नायिका-भेद का भक्ति के आवरण में लिपटा हुआ रूप सामने आया। रीति युग में विशेषतया यह राधाकृष्ण संबंधी नायिकाभेद केवल परम्परा का पालन करता हुआ देखा जा सकता है। ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना हुई। इसमें नायिकाओं के सूक्ष्म भेदों का विवेचन किया गया है। इस आधार पर भी शृंगार युग के कवियों ने नायिकाभेद तथा अलंकरण का वर्णन किया है। इन्हीं नायिकाओं के लीला-विलास का वर्णन करने के साथ-साथ कवियों ने उद्दीपन-विभाव के रूप में षट्ऋतु का वर्णन भी किया है। अनेक ऋतुओं का प्रचलित परम्परागत रूप चित्रित करके कवियों ने रस-परिपाक में सहायता की है। इस प्रकार नायिका भेद, नखशिख, षट्ऋतु वर्णन तथा अलंकार परम्परा का आरंभ एक साथ होता हुआ देखा जा सकता है। शृङ्गार युग के कवियों में ये प्रवृत्तियां आचार्यत्व की ओट में बराबर चलती रहीं। संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का अनुसरण करके हिंदी के कवि भी शास्त्रीय रचनाएँ करते रहे। संस्कृत में प्रचलित अनेक संप्रदायों की दृष्टि से देखने पर हिंदी के कवियों को किसी

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११२, १३।

संप्रदाय विशेष का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। इनमें प्रायः सभी संप्रदायों के लक्षण मिले-जुले प्राप्त होते हैं। इस प्रकार श्रृङ्गार-सम्बन्धी विभिन्न परम्पराएँ केशव से पद्माकर तक और पद्माकर के उपरांत परवर्ती कवियों से रत्नाकर तक निरन्तर चलती रहीं। रत्नाकर में नायिका भेद, अलंकार, षट्-ऋतु-वर्णन, नखशिख आदि सभी परम्पराएँ स्पष्टतया देखी जा सकती हैं।

काव्य-कृतियाँ

रचनाकाल

रत्नाकर जी के रचनाकाल को हम स्पष्टतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके रचनाकल का पूर्वार्द्ध सन् १८६४ ई० से १६०२ ई० तक तथा उत्तरार्द्ध सन् १६१६ ई० से १६३२ ई० तक (उनकी मृत्यु सन्) तक मानना उचित है। सन् १६०३ ई० से १६१८ ई० तक रत्नाकर जी साहित्यिक क्षेत्र में पूर्ण रूप से मौन रहे। फलतः लगभग १५ वर्ष तक हिंदी-साहित्य को उनका कोई भी रत्न प्राप्त न हो सका। यद्यपि कुछ फुटकल छन्दों की रचना हुई, किन्तु वे उनके रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में ही प्रकाश में आए।

पूर्वार्द्ध की रचनाएँ

हिन्दी साहित्य में रत्नाकर जी का आगमन प्रधानतया समस्यापूर्तियों के द्वारा हुआ। काव्यग्रंथ के रूप में हमें सर्वप्रथम १८६४ ई० में हिंडोला का दर्शन होता है। तत्पश्चात् 'हरिश्चन्द्र' काव्य तथा उसके पूरक के रूप में 'कलकाशी' का निर्माण हुआ। सन् १८६४ ई० में ही रत्नाकर जी कृत 'साहित्य-रत्नाकर' (काव्य निरूपण खंड) 'साहित्य-सुधानिधि' पत्र में प्रकाशित हुआ, जिसे बाद में नागरी-प्रचारिणी-सभा ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया। नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के प्रथम वर्ष के तृतीय अंक में "समालोचनादर्श" का कुछ भाग प्रकाशित हुआ, किन्तु पूरा अनुवाद उनके रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित हुआ। "घनाक्षरी नियम रत्नाकर" नामक लेख १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ तथा १६०२ में 'वर्ण सवैया छन्द' नामक लेख 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

रत्नाकर जी की पूर्वार्द्ध की रचनाओं में भारतेंदु जी के प्रभाववश प्रबन्ध-काव्य की ही प्रधानता है। फुटकल छन्दों की रचना समय-समय पर होती रही तथा समस्यापूर्तियाँ भी पर्याप्त रूप में हुईं। रत्नाकर जी के रचनाकाल का पूर्वार्द्ध रचनाओं की दृष्टि से उत्तरार्द्ध की अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण है। किन्तु इस काल के संपादित ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि वे पूर्वार्द्ध में प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन एवं संपादन में दत्तचित्त थे। पूर्वार्द्ध में उन्होंने १२ ग्रंथों का सम्पादन किया।

सर्वप्रथम १८८७ ई० में सुधासार प्रथम भाग का संपादन हुआ।

१८८६ में दूलह कवि-कृत 'कविकुल कंठाभरण', सुन्दरकृत "सुन्दर शृंगार" तथा ब्रह्मदत्त कृत 'दीप प्रकाश' प्रकाश में आए।

१८६३ ई० में नृपशंभु कृत 'नखशिख' एवं चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत 'हम्मीर हठ' का संपादन उन्होंने उपस्थित किया।

सन् १८६४ ई० में पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत 'रसिक विनोद' तथा 'समस्यापूर्ति' भाग १ का प्रकाशन हुआ।

१८६५ ई० में कलक कृत 'दासोक्ते कलक' तथा कृपाराम कृत 'हिततरंगिनी' प्रकाशित हुई।

सन् १८६५ ई० में केशवदास कृत 'नखशिख' तथा घनानन्द कृत सुजानसागर' का संपादन हुआ।

संपादित ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि रत्नाकर जी साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण करने के साथ ही प्राचीन ग्रंथों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन ज्ञानार्जन के लिए करते थे। इसी गहन अध्ययन के फलस्वरूप उनकी रचनाओं में रीतिकाल एवं भक्तिकाल की प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय हुआ है। स्थूल रूप से उनके संपादित ग्रंथों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उनमें अधिकांशतः 'नखशिख', अलंकार, रस आदि संबंधी पुस्तकें ही हैं। वस्तुतः रत्नाकर जी का काव्यशास्त्र पर पूर्ण अधिकार इसी गहन एवं गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ।

यद्यपि सन् १६०३ से १६१८ ई० तक रत्नाकर जी का कोई ठोस कार्य हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होता, किंतु निश्चय ही उस काल में रत्नाकर जी ने पर्याप्त छन्दों की रचना की थी, जो उनके निम्न कथन से स्पष्ट है :—

'सम्वत् १६७८ के आरम्भ में मेरा एक संदूक हरिद्वार में चोरी चला गया, जिसमें अन्यान्य सामग्री के साथ मेरे कवित्तों की एक चौपतिया भी जाती रही, इसमें ५०० से ऊपर कवित्त थे।'—निवेदन, उद्धवशतक।

इससे स्पष्ट है कि सम्वत् १६७८ अर्थात् १६२१ ई० के पहले अर्थात् अयोध्यावास में भी वे कवित्तों की रचना जब तब किया करते थे।

उत्तरार्द्ध की रचनाएँ

रचनाकाल की दृष्टि से रत्नाकर जी के रचनाकाल का उत्तरार्द्ध विशेष महत्वपूर्ण है। लगभग १७, १८, वर्ष बिल्कुल मौन रहने के बाद रत्नाकर जी का

साहित्यिक क्षेत्र में पुनः आगमन हुआ और फिर वे जीवनपर्यन्त साहित्य-सेवा में रत रहे। उनकी काव्य-कृतियों की एक शृङ्खला-सी बँध गई तथा समय-समय पर पत्रिकाओं में उनके लेख भी प्रकाशित होने लगे, जिससे उनके विचार जाने जा सकते हैं। उनके जीवन के अंतिम दस वर्षों को ही उनके रचनाकाल का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

सन् १६१६ में 'समालोचनादर्श' का प्रकाशन हुआ। १४ मई १६२१ ई० को गंगावतरण की रचना आरम्भ हुई तथा १६२३ में समाप्त हुई। सन् १६२२ ई० में तिथियों तथा वारों को मिलाने की सुगम रीति, नामक लेख तथा गङ्गा-लहरी, के कुछ छन्द प्रकाशित हुए[1]। स्पष्ट है, लहरी त्रय की रचना आरम्भ हो चुकी थी तथा "महाराज शिवाजी का एक नया पत्र"[2] लेख ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित हुआ। सन् १६२३ ई० की माधुरी में शारदाष्टक[3] के छन्द प्राप्त होते हैं। सन् १६२४ ई० में नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में "रोला छन्द के लक्षण",[4] शुङ्गवंश का एक शिलालेख[5] तथा शुङ्गवंश का एक नया शिला लेख[6] प्रकाश में आए।

१६२५ की माधुरी में शिशिराष्टक[7] के २ छन्द, शारदाष्टक व शारदा-बन्दना[8], ज्वालामुखी के ३ छन्द[9], तथा शरद वर्णन प्रकाशित हुए।

२६ दिसम्बर सन् १६२५ ई० में वे प्रथम अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के सभापति के पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा इस पद से दिया गया भाषण पुस्तिकाकार छपा। माधुरी में वही भाषण १६२६ ई० में प्रकाशित हुआ।

१६२६ की माधुरी में गणेशवन्दना[11], नंदनंदन[12], छबीलीघटा[13] आदि कविताएँ प्रकाशित हुईं। ६ नवम्बर १६२६ को इलाहाबाद में होने वाले कोर्ट-ओरिएंटल कांग्रेस में रत्नाकर जी ने इङ्गलिश में भाषण दिया, जो अध्यक्ष के भाषण नाम से प्रकाशित हुआ।

१६२७ की माधुरी में उद्धव[14] गोपी संवाद, यमुनाष्टक[15] के छन्द, हरियाली[16] मैलाली तथा पावस[17] प्रमोद नामक छन्द उद्धृत हुए।

---

१. माधुरी, १६२२,। २. भाग २, पृ० १४१,। ३. नवम्बर के ३ अंक में। ४. भाग ५. ५. पृ० ७५,। ६ भाग ५, पृ० २०६। ७. २१ जनवरी, पृ० १। ८. २८ जुलाई। ६. २४ सितम्बर। १०. अक्तूबर, पृ० ४३३। ११. १४ मई, पृ० ४३३। १२. १५ अगस्त। १३. १२ नवम्बर। १४. १० जनवरी १६२७ १५. फरवरी १६२७.। १६. अगस्त १६२७,। १७. ६ जुलाई १६२७।

सन् १९२७ ई० की ना० प्र० पत्रिका में बिहारी की जीवनी[1], एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व[2] की प्रति, तथा एक प्राचीन[3] मूर्ति, नामक लेख छपे। समय-समय पर प्रकाशित रत्नाकर जी के विभिन्न छन्दों से अनुमान होता है कि विविध अष्टकों की पूर्ति १९२२ से २७ तक हुई।

१९२८ में माधुरी में उद्धव की[4] विदाई, उद्धव का प्रत्यागमन[5], गङ्गा-गौरव[6] तथा प्रभात[7] और साहित्य[8] सुधा प्रकाशित हुए।

सन् १९२९ ई० को सरस्वती में विनय[9] के दो पद तथा विशालभारत में शारदा[10] स्तुति, रत्नाकर के दो[11] छन्द तथा अभिमन्यु[12]कविता छपी।

सन् १९२८ की माधुरी में श्री देवदत्त कवि का शिवाष्टक[13], ना० प्र० पत्रिका में बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्य[14] तथा समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व नामक लेख मुद्रित हुए।

सन् १९२९ ई० में उद्धवशतक प्रकाशित हुआ। माधुरी में कवि श्रीपति तिवारी के छन्द प्रकाशित हुए। ना० प्र० पत्रिका में बिहारी-सतसई सम्बन्धी[15] साहित्य तथा 'साहित्यिक ब्रज-भाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री' नामक लेख आए।

२६ मई १९३० को बीसवें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से उन्होंने भाषण दिया। १९३१ में रत्नाकर जी सूरसागर के सम्पादन में लगे हुए थे। मई १९३१ के विशाल भारत में रत्नाकर जी का चित्र 'चित्र संचय' में और इसी वर्ष 'बासुरी' नामक पद भी प्रकाशित हुआ।

रचनाकाल के उत्तरार्द्ध में केवल दो ग्रन्थों का सम्पादन-कार्य हुआ, किन्तु उनकी महत्ता पूर्वार्द्ध में सम्पादित ग्रन्थों से निश्चय ही अधिक है। 'बिहारी रत्नाकर' का सम्पादन कार्य १९२२ ई० में समाप्त हुआ। सूर-सागर नवम सर्ग तक पूर्ण तथा दशम सर्ग का तीन-चौथाई भाग वे सम्पादित कर चुके थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे इसी कार्य में दत्तचित्त रहे। रत्नाकर जी की

---

१. भाग ८, पृ० ८७ तथा १२१। २. भाग ८ पृ० २२९। ३. वही पृ० २९७। ४. जनवरी, १९२८। ५. फरवरी, १९२८। ६. १९२८, पृ० ६७३। ७. १९२८ अगस्त। ८. सितम्बर, १९२८। ९. जनवरी पृ० १। १०. अगस्त ११. फरवरी, १२. भाग ९, पृ० ५९, १२१ तथा ३२९। १३ वही पृ० १। १४. कार्तिक, १९२९। १५. भाग १०, पृ० ४७३।

रचनाओं, भाषणों एवं सम्पादित ग्रन्थों को देखकर उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का आभास मिलता है।

रचना का उद्देश्य

काव्य-रचना कवि की हार्दिक अनुभूति की द्योतिका है। जब कवि अपने हृद्गत भावों को अपने हृदय में रोक नहीं पाता तब अनुभूतिपूर्ण शब्दों में वह उन्हें व्यक्त कर देता है। काव्य-रचना का मूल कारण यही कहा जा सकता है किन्तु काव्य-रचना का कुछ तत्कालीन कारण अथवा प्रेरणाएं हुआ करती हैं। अपना वातावरण, कुछ राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ कवि को किसी विशेष प्रकार का काव्य रचने के लिए बाध्य कर देती हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों से प्रेरित होकर कवि किसी विशेष प्रकार की काव्य-रचना करता है। इस सामान्य सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर हम रत्नाकर जी के रचना-उद्देश्य पर विचार कर सकते हैं।

रत्नाकर जी कला के वातावरण में उत्पन्न हुए तथा सम्पन्नता के वातावरण में बड़े हुए थे। उनके लिए जीवन में जीविका की समस्या कभी विषम नहीं हुई, फिर भी एक स्वावलम्बी व्यक्ति के समान वे जीविकोपार्जन से विरत भी नहीं हुए। आवागढ़ और अयोध्या के दरबारों में रहते हुए उन्होंने अपने साहित्यिक वातावरण को बनाए रखा। राजदरबारों में रहने के कारण उन्हें वैभव और विलास आमोद-प्रमोद इत्यादि का वातावरण ही सदैव उपलब्ध रहा। उनका युग संक्रान्ति का युग था। नवीनता का प्रकाश चारों ओर फैल रहा था, परन्तु प्राचीनता का व्यापक प्रभाव अपनी पूर्ण शक्ति से जन-मन पर अधिकार किए हुए था। काव्य के क्षेत्र में तत्कालीन कवि नवीन विचारों को ग्रहण करके भी प्राचीनता को छोड़ नहीं पा रहे थे। रत्नाकर जी तो अपने वातावरण तथा शिक्षा-दीक्षा में प्राचीनता-प्रेमी थे ही। अतः उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य मनोरञ्जन तथा आदर्श-स्थापन ही कहा जाय तो अनुचित न होगा। कला-प्रेम की प्रेरणा उनको श्रृङ्गार-युगीन कवियों से मिली। वे उर्दू में भी काव्य-रचना करते थे और उर्दू कवियों की रसिकता का अंश उन्हें भी प्राप्त हुआ था। ऐसी स्थिति में उनके काव्य का मूल आदर्श भावानभूति की अभिव्यंजना ही कहा जाना चाहिए। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे भारतेन्दु के विचारों एवं सिद्धान्तों को ही परिपुष्ट करना चाहते थे। भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' का पद्यरूपान्तर 'हरिश्चन्द्र' है, तथा उन्हीं के नाटकादि से प्रभावित

रत्नाकर जी की प्रारम्भ की रचनाएँ हैं। पूर्वार्द्ध में मुक्तक की रचना तो नहीं के बराबर है।

नवजागृति के उस युग में रत्नाकर जी नवीन जागरण की भावना से अप्रभावित कैसे रह सकते थे, वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के दरबार में बैठनेवाले बालक के रूप में वहां से निरन्तर नव सन्देश ग्रहण करते रहे। उसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय महापुरुषों का गौरवगान किया। उनके वीराष्टकों में ऐतिहासिक आदर्शों की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि उनकी आदर्शवादी मनोवृत्ति हिन्दू राष्ट्रीयता को साथ लेकर चली है अथवा उनके धार्मिक विश्वासों को साकार रूप प्रदान करने के प्रयत्न में उनके आदर्शवाद को सार्थक किया। रत्नाकर जी ने 'हिंडोला' में अपनी धार्मिक भावना को व्यक्त किया है। उद्धवशतक में ज्ञान एवं योग की अपेक्षा भक्ति को तथा निर्गुण के समक्ष सगुण की श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। हिंडोला, हरिश्चन्द्र, कलकाशी, गंगावतरण, उद्धवशतक तथा पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखने वाले अष्टक उनके धार्मिक विश्वासों को साकार रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकर जी की रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य अपने इष्टदेव राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना को स्वान्तःसुखाय कलात्मक ढंग से चरितार्थ करना ही है। वे न तो किसी वाद विशेष में पड़कर काव्य-रचना का आदर्श नीचे गिराना चाहते थे और न उपदेश-वृत्ति धारण करके धर्म, समाज-सुधार, नीति आदि का प्रत्यक्ष प्रचार ही करना चाहते थे। वैसे कवि कर्म की व्यापकता को देखते हुए वे सारे तत्त्व उनके काव्य में स्वतः समाविष्ट हो गए हैं, किन्तु वे केवल उन्हीं तत्त्वों को लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं हुए, अन्यथा उनका काव्य काव्य न होकर केवल प्रचार-साहित्य मात्र रह जाता।

———

कृतियों का संक्षिप्त परिचय

रत्नाकर जी की रचनाओं का वर्गीकरण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने महाकाव्य की रचना करने का प्रयत्न नहीं किया। इनके हरिश्चन्द्र तथा गंगावतरण काव्य खण्ड-काव्य के अन्तर्गत ही आते हैं। इन कृतियों का संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित न होगा।

१—हरिश्चन्द्र

'हरिश्चन्द्र' रत्नाकर जी की द्वितीय काव्य कृति है। सर्वप्रथम भाषा-सार-संग्रह नामक काव्यसंग्रह में इसका प्रकाशन हुआ। इस काव्य में ४ सर्ग हैं तथा आरम्भ से अन्त तक रोला छंद का प्रयोग किया गया है। मंगलाचरण तथा समाप्ति-तिथि नहीं दी गई है।

इसका निर्माण भारतेन्दु के हरिश्चन्द्र नाटक के आधार पर हुआ है। यह भी कहना असंगत न होगा कि यह भारतेन्दु जी के नाटक का पद्यात्माक रूपान्तर है। भारतेन्दु जी ने हरिश्चन्द्र नाटक की रचना आर्यक्षेमेश्वर के संस्कृत नाटक 'चंड कौशिक' के आधार पर की है किंतु आदि एवं अन्त की घटनाओं में विशेष अन्तर भी है। चंड कौशिक के ही संस्कृत श्लोकों को भारतेन्दु जी ने रख दिया है। आ० रामचंद्र शुक्ल ने इसे एक बँगला नाटक 'सत्य हरिश्चंद्र' का अनुवाद कहा है। यह बगला नाटक भी संस्कृत नाटक चंड कौशिक के आधार पर ही निर्मित हुआ है।

अवध के रघुवंशी राजाओं में हरिश्चन्द्र का नाम भी अग्रगण्य है। रत्नाकर जी के अनुसार हरिश्चन्द्र इस वंश के २८ वें राजा थे तथा रामचंद्र जी से ३५ पीढ़ी पूर्व अवतीर्ण हुए थे। इस कथा के दो रूप हैं। पहला वैदिक उपाख्यान तथा दूसरा पौराणिक। वैदिक उपाख्यान में हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकु वंशी वेधस के पुत्र थे। हरिश्चन्द्र की १०० पत्नियाँ थीं किंतु पुत्र किसी के न था। उनके यहाँ नारद एवं पर्वत नामक दो ऋषि थे। नारद ऋषि के आदेशानुसार उन्होंने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वरुण की तपस्या की। वरुण ने पुत्र तो प्रदान किया किंतु उन्होंने उसके जन्म के पूर्व ही उसे बलि रूप में प्राप्त करने का वचन

राजा हरिश्चन्द्र से ले लिया। राजा हरिश्चन्द्र ने भावातिरेक में बिना समझे हुए ही पुत्र को १० दिन बाद बलि देने का वचन दे दिया। रोहित का जन्म हुआ। राजा पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर वचन पूरा न कर सके। वरुण के स्मरण कराने पर, दाँत निकल आने पर बलि देने का, पुनः अन्य शुभ संस्कारों के बाद बलि देने की बात कह कर टालते गये। रोहित बड़ा हुआ और उसने अपनी बलि देना अस्वीकार कर वनके लिये प्रस्थान कर दिया।

हरिश्चन्द्र जलोदर रोग से ग्रस्त हो गये। यह समाचार ज्ञात होने पर रोहित घर वापस आने के लिये प्रस्तुत हुआ। किंतु नारद ने बीच ही में छद्म वेश में प्रकट होकर रोक दिया। ६ वर्ष के बाद सातवेंवर्ष में रोहित की भेंट अजीगर्त के परिवार से हुई। निर्धनता-वश उसने अपने पुत्र शुनःशेप को १०० गायों के बदले रोहित को दे दिया। रोहित उसे अपने साथ लाया और वरुण को इस बात पर राजी कर लिया कि वे शुनःशेप की बलि रोहित के स्थान पर ग्रहण करें। शुनःशेप ने वरुण को प्रर्थना की। वरुण ने प्रसन्न होकर उसे भी मुक्त कर दिया। श्रीमद्भगवत में भी इसी उपाख्यान की छाया है किंतु साहित्यकारों को इस कथा में आकर्षण नहीं मिला। हरिश्चन्द का चरित्र पौराणिक कथा में निखर उठा है। उसके समक्ष वैदिक उपाख्यान के हरिश्चन्द के चरित्र में कोई विशेष महत्ता नहीं है।

पौराणिक कथा में राजा हरिश्चन्द सत्यवादी के रूप में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किये गए हैं। उनकी सत्यवादिता एवं दानवीरता पौराणिक कथा में सीमा को पार कर गई है और यही अति साहित्यकारों के लिये आकर्षण बन गई है। विश्वामित्र एवं नारदादि ने उनके परीक्षार्थ इस लीला को रचा था। सभी पुराण इसकी कथा से एक मत हैं। केवल विश्वामित्र के मिलने का थोड़ा बहुत अन्तर प्राप्त होता है भविष्य पुराण में राजा हरिश्चन्द्र शिकार के लिये वन में विचरण कर रहे थे। वृक्ष में बँधी हुई महिलाओं के आर्त स्वर सुनने पर पीड़ा पहुँचाने वाले को बुरा-भला कहते हुए हरिश्चन्द्र जी दौड़े। किंतु वे लीला मात्र थीं और विश्वामित्र क्रुद्ध रूप में उन्हें दृष्टिगत हुए, जिसके फलस्वरूप आगे के काव्य का विस्तार हुआ। अन्य पुराणों में विश्वामित्र स्वयं राजधानी में जाकर राजा से दान याचना करते हैं। हरिश्चन्द काव्य में वर्णित कथा भी पौराणिक कथा के आधार पर रचित है, जो निम्न प्रकार से है:—

प्रथम सर्ग में रत्नाकर जी ने राजा हरिश्चन्द के राज्य का वर्णन किया है। पुनः नारद इन्द्र के दरबार में पहुँचते हैं। वहाँ अपने प्रसन्नचित्त होने का कारण इन्द्र द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने हरिश्चन्द की प्रशंसा की तथा इंद्र की शंका

का उन्होंने समाधान किया कि वे स्वर्ग के अभिलाषी नहीं हैं। किन्तु इन्द्र स्वभावतः कुछ विघ्न डालना उचित समझ कर परीक्षा लेने की बात कहते हैं। इस पर नारद जी कुछ उत्साहित होकर रोषपूर्ण हो जाते हैं और परीक्षण को तुच्छता बताते हुए कहते हैं कि हरिश्चंद्र का मत स्वयं शारदा भी नहीं बदल सकतीं। इसी स्थल पर विश्वामित्र का प्रवेश होता है। नारद प्रस्थान करते हैं। विश्वामित्र के पूछने पर इन्द्र भोलेपन तथा सरलतापूर्वक घटना वर्णित करते हैं। स्वभाव से क्रोधी विश्वामित्र भी उत्साहित होकर पूछते हैं कि हरिश्चंद्र में ऐसे कौन से गुण हैं जो मुनियों के मन को मोहते हैं। सहारा पाकर इन्द्र ने अपने मनोविज्ञान के ज्ञान का उचित प्रयोग करके कह दिया—

.... हमहूँ तो इहि भाषत।
पै मिथ्याश्लाघी औचित्य विवेक न राखत॥
तुमसे महानुभावनि हूँ के होते जग मैं।
इक सामान्य गृहस्थ भूप को व्रत किहि मग में॥३१॥

—प्रथम सर्ग

विश्वामित्र का स्वाभिमान जागृत हो उठता है और वे स्वयं परीक्षा लेने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं।

द्वितीय सर्ग में विश्वामित्र सीधे अवधपुरी आते हैं। विश्वामित्र द्वार पर "टरहिं चन्द सूरज औ टरहिं मेरु गिरि सागर, टरहिं न पै हरिचन्द भूप को सत्य उजागर" पढ़कर और भी उत्तेजित हो उठते हैं। राजा हरिश्चन्द्र के सम्मानित करने पर वे अपना परिचय देकर सकल मही दान लेने की अभिलाषा करते हैं। हरिश्चन्द्र सहर्ष देते हैं। दान-प्रतिष्ठा माँगने पर मन्त्री को सहस्र स्वर्ण मुद्रा लाने की आज्ञा देते हैं। विश्वामित्र अत्यधिक क्रुद्ध होकर अनुचित विशेषणों का प्रयोग करते हुए उन्हें चेतावनी देते हैं कि उनका राज-कोष पर कोई अधिकार नहीं है। अतिविनम्र क्षमायाचना करते हुए हरिश्चन्द्र, "दारा सुअन समेत याहि ऋण-हेत बिकैहैं" कहते हैं। किन्तु वसुधा विश्वामित्र की थी वे किसके धन से बिकें। तब उन्होंने कहा—"करि कुबेर सौं जुद्ध आनि धन सुद्ध चुकैहैं" किन्तु विश्वामित्र अस्त्र देते तभी यह सम्भव होता। काशी शंकर के त्रिशूल पर बसी हुई है और लोक बाहर है, वहाँ दारा सुअन समेत बिककर, एक मास की अवधि में ऋण चुकाने को कहा। एक मास में न देने पर विश्वामित्र कहते हैं, "तौ तोहिं पुरुषनि संग सारं दै नरक पठैहैं।" मन्त्री आदि से क्षमा याचना करके हरिश्चन्द्र शैव्या एवं

रोहिताश्व को लेकर हर्ष-विषाद-रहित राजत्याग कर काशी के लिये प्रस्थान करते हैं।

तृतीय सर्ग में, मास समाप्त होने के ही दिन विश्वामित्र जी पहुंच कर उन्हें अनुचित शब्द कहते हैं। हाट में वे स्वयं बिकने के लिये पुकार लगाते हैं। इस पर शैब्या अपने रहते हुए अपने स्वामी को दास-वृत्ति ग्रहण करने से मना करती है और पहले स्वयं बिकने के लिये प्रस्तुत होती है। एक कुलीन उपाध्याय के हाथ रानी शैब्या एवं रोहित बिकते हैं। उधर रानी उपाध्याय के शिष्य कौंडिन्य के साथ जाती है, इधर विश्वामित्र पुनः क्रुद्ध होकर उपस्थित होते हैं। आधी दक्षिणा देने पर विश्वामित्र अस्वीकार करते हैं तब आकाशवाणी हुई :—"धिक सब तप, व्रत, ज्ञान तथा धिक बहु श्रुतताई। जो हरिचन्द भुवालहिं यह दुर्दसा दिखाई।" विश्वामित्र क्रोधित हो शाप देते हैं। आकाश से देवगण दुखी होकर गिरने लगते हैं। हरिश्चन्द्र अपने को धन्य समझते हैं कि उन्हें विश्वामित्र ने शाप नहीं दिया। इतने में डोम-चौधरी आए और हरिश्चन्द्र को खरीदने के लिये प्रस्तुत हुए। हरिश्चन्द्र विश्वामित्र से करुणा की भिक्षा माँगते हैं किन्तु वे नहीं पसीजते। वे हरिश्चन्द्र को चांडाल के ही हाथ बिकने के लिये आज्ञा देते हैं। हरिश्चन्द्र ऋण-मुक्त हुए। उन मुद्राओं को विश्वामित्र वहीं बाँट देते हैं। इधर राजा मरघट पर कफन-कर लेने आते हैं और उधर रानी उपाध्याय के यहाँ दासी-कार्य करने जाती हैं।

चौथे सर्ग में, हरिश्चन्द्र जी मरघट की रखवाली करते हैं। श्मशान देवी प्रकट होती हैं। उनसे भी हरिश्चन्द्र अपने स्वामी के कल्याण का ही वर माँगते हैं। कापालिक का वेष धारण कर धर्म आते हैं और सिद्धि-प्राप्ति के लिये राजा से विघ्नों को दूर करने को कहते हैं। अष्ट सिद्धि, नव निधि तथा देवी-देवता भी हरिश्चन्द्र को आशीर्वाद देते हैं। अचानक राजा के वाम अंग फड़कने लगे। अशुभ कल्पनाएँ उठीं। सूर्य, सत्य पर दृढ़ रहने के लिये कुल-गुरु-पद से आकाशवाणी द्वारा सावधान करते हैं।

नारी का विलाप सुन वे उधर जाते हैं। "वत्स, मैया मुख हेरो। वीर पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरौ।" आदि विलाप से उन्हें कुछ अपनी-सी ही परिस्थितियों का आभास होने लगता है। उस स्त्री के पुत्र को साँप ने डस लिया था। "हाय, आज पूरी कौसिक सब आस तिहारी।" वाक्य सुन कर वे विकल हो विलाप करने लगते हैं। अत्यधिक दुःख के कारण वे फाँसी लगाना चाहते हैं, किंतु सत्य विचार आते ही वे सँभल जाते हैं। शैब्या को भी आत्म-हत्या का विचार करने पर वे चेतावनी देते हैं। तथा उससे कफन-कर

माँगते हैं। आकाशवाणी द्वारा हरिश्चंद्र की प्रशंसा सुन वह कहती है, "जानि परत सब सास्त्र आदि अब तो मिथ्या छल ॥" हरिश्चंद्र उसे सद्-वचन कहते हैं। उनके स्वर तथा आकृति से शैव्या उन्हें पहचान जाती है। तथा और भी उद्विग्न हो उठती है। किंतु राजा अपने धर्म से नहीं डिगते। कर देने के लिये शैव्या अपना वसन फाड़ना चाहती है, तभी पृथ्वी काँप उठती है तथा घोर विस्मयकारी शब्द होता है। अनेक बाजे सुनाई पड़ने लगते हैं, सुमनों की वर्षा होने लगती है। हरि असुरारी प्रकट होकर हाथ पकड़ लेते हैं। राजा हाथ जोड़ नारायण के कष्ट पर ग्लानि प्रदर्शित करते हैं। नारायण शैव्या को ऐसे सत्यवादी पति पाने के लिये बधाई देते हैं। रोहित उठकर नारायण को प्रणाम कर माता-पिता के चरणों का स्पर्श करता है। तब :—

सत्य, धर्म, भैरव, गौरी, सिव, कौसिक, सुरपति।
सब आये तिहि ठाम प्रसंसा करत जथामति ॥

विश्वामित्र भी क्षमायाचना करते हैं। इन्द्र अपनी दुष्टता को स्वीकार करते हैं। हरिश्चंद्र ने ब्रह्मपद प्राप्त किया। नारायण उन्हें वर माँगने के लिये कहते हैं। वे अपनी प्रजा का वैकुण्ठवास माँगते हैं। पुनः वर माँगने के लिये आग्रह करने पर भारत की महिमादि के लिये प्रार्थना करते हैं तथा रोहिताश्व को राज्य देकर वे पत्नी सहित विमान पर वैकुण्ठ जाते हैं और पुष्पों की वर्षा होती है।

इस कथा में दान-वीरता के भाव के साथ ही करुण रस प्रधान है। इसी कारण साहित्यकारों के लिये यह पौराणिक आख्यान आकर्षण का विषय बना।

रत्नाकर जी के काव्य में कुछ विशेषताएँ भी हैं। रत्नाकर जी ने पात्रों का चरित्र-चित्रण अत्यधिक स्वाभाविक रूप से किया है। हरिश्चंद्र में मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं किंतु वे सत्य पर अटल रहते हैं, जैसा उनके रोहित की मृत्यु पर विलाप एवं फाँसी लगाने के लिये प्रस्तुत होने से ज्ञात होता है। रत्नाकर जी ने वीभत्स रस का बड़ा ही सजीव चित्रण श्मशान-वर्णन में किया है। इसी सर्ग में कथा चरम सीमा पर पहुँच कर समाप्त होती है।

हरिश्चंद्र काव्य तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित सत्य-हरिश्चंद्र नाटक में साम्य होते हुए भी उनमें पर्याप्त भिन्नता वर्तमान है।

१. रत्नाकर जी के हरिश्चन्द्र अत्यधिक मानव रूप में ही चित्रित हुए हैं, देवता-स्वरूप में नहीं। भारतेन्दु उनके चरित्र को देव कोटि तक ले जाते हैं। जैसे, स्वप्न में दिये हुए दान को भी सत्य मानना।

२. भगीरथ से पूर्व होने पर भी हरिश्चन्द्र द्वारा भारतेंदु ने गंगा को 'भगीरथ नृपति पुण्य फल' कहलाया है, जो अनुचित है। किंतु रत्नाकर जी ने ऐसी भूल नहीं की।

३. भारतेंदु का शैब्या-विलाप अत्यधिक विस्तारपूर्वक हुआ है, जो सीमा को पार कर जाता है। किंतु रत्नाकर का शैब्या-विलाप करुण-रस का सुन्दर उदाहरण है तथा बिलकुल स्वाभाविक रूप में हुआ है।

४. अंकावतार अंत में आना चाहिये। भारतेंदु ने उसे तृतीय अंक के आदि में रखकर नाट्यशास्त्र की अनभिज्ञता प्रकट की है। रत्नाकर ने इसे समाप्ति पर दिया है।

५. अंकों का उत्तरोत्तर छोटा होना ही उचित है। किंतु चण्डकौशिक के चौथे तथा पाँचवें सर्ग को भारतेंदु ने जोड़ दिया है और ऐसा ही रत्नाकर जी ने भी उनके अनुकरण पर किया है, किंतु रत्नाकर का चौथा सर्ग खलता नहीं।

६. भारतेंदु के नाटक में नारद सुरपति की सभा में कहते हैं—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को, टर न सत्य विचार॥

किंतु रत्नाकर जी ने इसे द्वार पर लिखा दिखला कर, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि में घृत का काम लिया है। वे लिखते हैं—

'टरहिं चन्द्र सूरज औ टरहिं मेरु गिरि सागर।
टरहि न पै हरिचंद भूप को सत्य उजागर॥'

७. भारतेंदु ने चण्डकौशिक के श्लोकों का अनुवाद करने का प्रयास किया है, किंतु रत्नाकर जी ने ऐसा नहीं किया।

८. भारतेंदु ने विश्वामित्र को अन्तःपुर तक प्रवेश कराया है, रत्नाकर जी ने ऐसा नहीं दिखलाया।

९. भारतेंदु ने काशी-महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किंतु रत्नाकर जी ने एक पंक्ति में ही वर्णन समाप्त कर दिया है।

१०. रत्नाकर जी ने विश्वदेवों की पूजा छोड़ दी है।

११. रत्नाकर जी ने भूत-पिशाच-प्रेतादि का वर्णन श्मशान में नहीं किया है।

हरिश्चन्द्र काव्य में रत्नाकर जी ने करुण-रस का परिपाक अत्यधिक सुन्दर रूप में किया है। यह कृति सत्य की महत्ता का प्रकाश निरन्तर फैलाएगी। यह खण्ड काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

२. गंगावतरण

गंगावतरण की रचना अवधेश्वरी की प्रेरणा के फलस्वरूप हुई। रत्नाकर जी ने बड़े उत्साहपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। १४ मई, १६२१ ई० को इसकी रचना आरम्भ हुई तथा १६२३ ई० में इसकी समाप्ति हुई।[१] रत्नाकर जी को पुरस्कार-स्वरूप महारानी ने १००० तथा हिंदुस्तानी एकेडमी ने ५०० रुपये प्रदान किये। रत्नाकर जी ने यह धन नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी को दान-स्वरूप दे दिया।

गंगावतरण के आरम्भ में ३ छप्पय में मंगलाचरण है जिसमें क्रमशः गंगा, सरस्वती तथा गणेश जी की वन्दना की गई है; तदुपरांत १३ वाँ सर्ग साकेत के प्रसिद्ध रघुवंशी राजा सगर के वर्णन से आरम्भ होता है। कथा रोला छन्द में वर्णित है। प्रत्येक सर्ग का अंतिम छन्द उल्लाला है। समाप्ति-तिथि दोहा में है।

गंगावतरण की कथा अत्यधिक प्रचलित एवं प्राचीन है। वाल्मीकि रामायण ही इसका आधार माना जा सकता है, जैसा श्री कृष्णशङ्कर शुक्ल जी ने भी 'कविवर रत्नाकर' में माना है; वैसे तो श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त-पुराण तथा पद्म-पुराण में भी इस कथा का वर्णन है। वाल्मीकीय-रामायण के ३९ वें से ४४ वें सर्ग तक इस कथा का विस्तार है। रत्नाकर जी ने स्वयं कहा है—

त्रेता जुग मुनि बाल्मीकि द्वापर पारासर।
कलि मैं यह सुचि चरित चारु गैहै रतनाकर ॥[२]

गंगावतरण के पञ्चम सर्ग की कथा देवीभागवत के दशम स्कन्ध के बारहवें अध्याय से प्रभावित है। कहीं-कहीं रत्नाकर जी ने अपनी कल्पना को भी दौड़ाया है जिसके फलस्वरूप कथा में मौलिकता आ गई है। घटनाओं के वर्णन में आवश्यकतानुसार व्यास एवं समास दोनों ही शैलियों का प्रयोग हुआ है। वाल्मीकीय रामायण में भगीरथ ने ब्रह्मा की तपस्या की है। इससे कथा में अनावश्यक विस्तार होता है। श्री मद्भागवत में गङ्गा जी स्वयं ही तप का

---

१. श्री मदनलाल चतुर्वेदी जी ने लिखा है, "१४ मई १६२१ का दिन व्रज-भाषा के इतिहास में स्मरणीय रहेगा, जब रत्नाकर जी ने गंगावतरण काव्य की रचना प्रारम्भ की।" विशाल भारत, जुलाई १६२८। "रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण" लेख।

२. १२ वें सर्ग का ३० वां छन्द।

फल देने के लिये उपस्थित होती हैं। रत्नाकर जी ने भी श्रीमद्भागवत का आदर्श ग्रहण किया किन्तु कथा के अन्य स्थान वाल्मीकीय रामायण से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

गङ्गावतरण की कथा इस प्रकार है। प्रथम सर्ग में सगर ने, अपनी पत्नियों सहित भृगु आश्रम में दीर्घ तपस्या की। ऋषि के आशीर्वाद से उन्हें एक रानी से असमंज तथा दूसरी से ६०००० पुत्र उत्पन्न हुए। असमंज अनाचारी था। अतः महाराज ने उसके स्थान पर उसके पुत्र अंशुमान को युवराज बनाया और स्वयं अश्वमेध यज्ञ करने लगे। इन्द्र ने यज्ञ का घोड़ा चुरा कर पातालपुरी में कपिल ऋषि के आश्रम में बाँध दिया। सगर के ६०००० पुत्रों ने उसे सम्पूर्ण पृथ्वी पर खोजा और असफल हुए। सगर स्वयं उसे खोजने जा रहे थे, किन्तु गुरु आदि ने उनको रोक दिया।

द्वितीय सर्ग में, सगर ने अपने पुत्रों को पाताल से घोड़ा खोज लाने का आदेश दिया। सगर-पुत्रों ने अश्व अन्वेषण करते हुए पृथ्वी को छिन्न-भिन्न कर डाला। जिससे सारे जीव-जन्तु, देव-दनुज आकुल हो उठे। अन्त में पृथ्वी खोदते हुये कपिल के आश्रम में पहुँच कर और घोड़े को वहाँ पाकर उन्होंने ऋषि को दुर्वाक्य कहे। जिसके फलस्वरूप ऋषि की क्रोधाग्नि में पड़ कर उन्हें भस्म हो जाना पड़ा।

तृतीय सर्ग में बहुत समय बीतने पर सगर के आज्ञानुसार अंशुमान अपने पितृव्यों को खोजने निकले। बहुत कुछ खोज के उपरान्त उन्हें गरुड़ के द्वारा उनके भस्म होने का समाचार मिला। वे बहुत दुखी हुए। गरुड़ ने कहा कि कपिल कोप के कारण ब्रह्मद्रव ही उनके पुरुषों का उद्धार कर सकता है। उन्होंने गंगा की महिमा का गान किया।

चतुर्थ सर्ग में, गरुड़ के द्वारा गङ्गा की महिमा तथा स्वरूप का गान है और उनके ब्रह्मद्रव रूप की इस प्रकार व्याख्या है—देवताओं के द्वारा राधाकृष्ण का प्रेम-पूर्वक गुण-गान और उससे द्रवित होकर राधाकृष्ण का द्रव-रूप होना, पुनः देवताओं की स्तुति पर नारी रूप गङ्गा के सहित प्रकट होना तथा गङ्गा का राधाकृष्ण के विग्रह में लीन हो जाना। उसके उपरान्त गरुड़ ने अंशुमान को पृथ्वी पर गङ्गा के लाने का आदेश दिया।

पंचम सर्ग में, अंमुमान अश्व सहित लौटता है। यज्ञ पूर्ण होता है। सगर गंगा-प्राप्ति के लिये तपस्या करते हैं। उनके उपरान्त अंशुमान, फिर उनके पुत्र दिलीप गंगा के लिये तपस्या करते हुए अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और इसके उपरान्त भगीरथ गंगावतरण के लिये तपस्या आरम्भ करते हैं।

षष्ठसर्ग में, भगीरथ का गोकरण-धाम-गमन, उनकी भीषण तपस्या, ब्रह्मा का प्रसन्न होना और भगीरथ का उनसे गंगा मांगना वर्णित है। शंकर जी ही गंगा को अपने माथे पर सँभाल सकते हैं, अतः शंकर जी की तपस्या करने का निर्देश पाकर भगीरथ उनकी तपस्या में लीन हो जाते हैं। शंकर जी उन्हें गंगाधारण करने का वरदान दे देते हैं।

सप्तम सर्ग में, भगीरथ की प्रार्थना पर ब्रह्मा के द्वारा गङ्गा का पृथ्वी पर छोड़ा जाना, उनके उतरने का विशद वर्णन, भगवान् शंकर द्वारा अपनी जटाओं में गङ्गा को धारण करना तथा जटाओं में ही उनका लुप्त हो जाना वर्णित है, जिसके फलस्वरूप भगीरथ को पुनः चिंता उत्पन्न हो गई।

अष्टम सर्ग में भगीरथ द्वारा गङ्गा की प्रार्थना तथा भगवान् शंकर द्वारा कृपा कर गंगा को पृथ्वी पर छोड़ना वर्णित है। भगीरथ की कामना पूर्ण होती है और वे गंगा का पथ-प्रदर्शन करते हुए आगे-आगे चलते हैं। मार्ग में राजर्षि जह्नु यज्ञ-सामग्री बहा देने के कारण अंजलि में भर कर उनका पान कर लेते हैं। भगीरथ ने जब उनकी प्रार्थना की तब उन्होंने अपने शरीर से उन्हें बाहर किया।

नवम सर्ग में, गङ्गा का प्रवाह और पृथ्वी पर पवित्रता तथा आनन्द उत्पन्न करनेवाला स्वरूप तथा गङ्गा के हरिद्वार तक अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हुई आने का वर्णन है।

दशम सर्ग में, गङ्गा के आगे बढ़ने तथा अनेक प्रकार की आनन्दमयी प्रवाह-धारा को धारण करके उनके प्रयाग तक आगमन का वर्णन है।

एकादश सर्ग में, गङ्गा-यमुना सङ्गम, विन्ध्याचल, चुनार, काशी इत्यादि तीर्थों से गङ्गा का प्रवाह, काशी में गङ्गा की शोभा तथा महिमा, सरयू, सोन, कोसी इत्यादि अनेक सरिताओं के साथ गङ्गा का सङ्गम, सुन्दरवन में आगमन और गङ्गासागर के स्थल पर सागर-सङ्गम का वर्णन है।

द्वादश सर्ग में, गङ्गा के द्वारा सगर-कुमारों के क्षार का प्रवाह और उनकी मुक्ति, गङ्गा के द्वारा पृथ्वी के निवासियों पर कृपा का वर्णन और अन्त में भरत वाक्य के रूप में भगीरथ के पितरों के द्वारा कल्याण-कामना है।

त्रयोदश सर्ग में, भगीरथ द्वारा गङ्गा-स्नान, गङ्गा-स्तुति तथा गङ्गा के द्वारा संसार के कल्याण का आशीर्वाद है। इसके उपरांत भगीरथ का प्रत्यावर्त्तन, सिंहासन-ग्रहण, आनन्दोत्सव तथा कथा-समाप्ति है।

वाल्मीकीय रामायण में भी सगर के पुत्रों द्वारा भूमि का खोदा जाना, देव-दनुजों का व्याकुल होना, ब्रह्मा के द्वारा यह भविष्यवाणी कि सगर-पुत्र

कपिल द्वार भस्म किये जाएँगे, वर्णित है। रत्नाकर जी ने भी इसे ग्रहण किया है। फिर गरुड़ के द्वारा अंशुमान को यह परामर्श कि गङ्गा ही उनके पितरों को मुक्त करेंगी और गङ्गा को पृथ्वी पर लाने की प्रेरणा गरुड़ द्वारा ही वाल्मीकीय रामायण में भी वर्णित है। गङ्गावतरण का वर्णन भी अनेक स्थलों पर वाल्मीकीय रामायण के वर्णन से प्रेरित है। वाल्मीकि का वर्णन सूत्र रूप में हुआ और रत्नाकर जी ने उसे विस्तारपूर्वक अपनी प्रतिभा के आधार पर मानवीय वातावरण देकर चित्रित किया है। इसी में इनकी प्रतिभा तथा कला के दर्शन होते हैं।

अब तक ब्रज-भाषा में कोई भी सुन्दर तथा मौलिक प्रबंध-काव्य प्रस्तुत न हुआ था। प्रेमसागर, सुखसागर, ब्रज-विलास विषय की दृष्टि से तो प्रबन्धात्मक थे किंतु काव्य-सौंदर्य इनमें न था। प्रथम सन्तुलित एवं सर्वगुण-सम्पन्न ब्रजभाषा का सफल काव्य गङ्गावतरण ही है। इसके आगमन से ब्रज-भाषा-प्रेमी आनन्द-विभोर हो उठे और उसी हर्षातिरेक में उन्हें वह महाकाव्य भी प्रतीत होने लगा। श्रीमदनलाल चतुर्वेदी जी ने कहा है, "सर्गबंधो महाकाव्यम्" आदि के अनुसार गङ्गावतरण महाकाव्य की श्रेणी में आता है।"[१]

उद्धव-शतक के समान ही यह रत्नाकर जी की उत्कृष्टतम प्रबंध रचना है। इसमें श्रृङ्गार, वीर तथा करुण रसों का सुन्दर सामंजस्य है। कथा में आरम्भ से अन्त तक एक उत्साहपूर्ण प्रवाह है, जिसमें वीर रस की ही प्रधानता मानना उचित प्रतीत होता है। कई स्थलों का वर्णन अत्यधिक कला एवं कौशलपूर्ण हुआ है। नवम सर्ग में गंगा जी के उतरने का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही है।

हिंदी-साहित्य में कथात्मक काव्यों का अभाव-सा रहा है। रामचरित-मानस, पद्मावत, नल-दमयन्ती तथा गुमान कवि के नैषध-चरित आदि कुछ कथात्मक काव्यों की परम्परा में गङ्गावतरण भी सुन्दर कथात्मक काव्य रूप में है। रत्नाकर जी के रोला में संगीतात्मकता का समावेश लय एवं तालरूप में रहता है। रत्नाकर जी पर विहारी का पर्याप्त प्रभाव था। गङ्गावतरण में भी विहारी के मुहाविरों तथा शब्दों का प्रयोग हमें स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ चुमकी, ठिक दीरघ, दाघ आदि। जहाँ-तहाँ विहारी, पद्माकर एवं ग्वाल कवि के भाव भी आ गए हैं, किन्तु इन भावों में रत्नाकर जी ने नवीनता ला दी है।

---

१. विशाल भारत जुलाई १९२८ : श्रीमदनलाल चतुर्वेदी, लेख : रत्नाकर और उनका गंगावतरण : पृ० १०८।

रत्नाकर, नन्ददास के रोला छंद से जितने प्रभावित हैं उतने ही पद्माकर की व्यास-शैली से। रोला छंद के नंददास, व्यास-शैली के सबसे बड़े कलाकार पद्माकर तथा समास-शैली में अद्वितीय बिहारी माने जाते हैं।

गङ्गावतरण के विषय में श्रीमदनलाल जी चतुर्वेदी ने लिखा है, "ब्रज-भाषा के निरादर का युग बीत गया, अब उसके अभ्युदय के दिन आनेवाले हैं और गंगावतरण इस दृष्टि से युगांतकारी ग्रन्थ कहा जा सकता है।"[1]

निःसन्देह यदि मदनलाल जी चतुर्वेदी की आशा पूर्ण होती तो गंगावतरण युगांतकारी ग्रन्थ होता, किंतु खेद है कि ब्रज-भाषा का अभ्युदय न हुआ और गंगावतरण युगांतकारी ग्रन्थ न बन सका। किन्तु खड़ी बोली के इस युग में गंगावतरण को यथोचित गौरव और सम्मान न मिल सका, फिर भी युग-विशेष की उपेक्षा से किसी ग्रन्थ की महत्ता कम नहीं होती। युग बदल गया है किंतु गंगावतरण का स्थान अब भी ब्रज-भाषा के श्रेष्ठतम ग्रथों में है। हिंदी-साहित्य में नाद-व्यञ्जना की दृष्टि से यह अद्वितीय ग्रंथ है। नाद-सौंदर्य का वर्णन हम कला के अन्तर्गत करेंगे।

---

१. विशाल भारत, जुलाई १९२८ : मदनलाल चतुर्वेदी, लेख : रत्नाकर और उनका गंगावतरण : पृ० १०८।

निर्बन्ध काव्य

१. हिंडोला

हिंडोला रत्नाकर जी की सर्वप्रथम काव्य-कृति है, जो सन् १८९४ में प्रकाशित हुई। सर्वप्रथम घनाक्षरी तथा एक दोहे में मङ्गलाचरण है, पुनः १०० रोला छन्दों में मुख्य विषय वर्णित है। झूला एक शुभ-धार्मिक पर्व रूप है। गोपालमन्दिर में झूला का दृश्य देखकर ही रत्नाकर जी के हृदय में भगवान् को अपनी काव्य-कल्पना में झुलाने की उत्कट अभिलाषा जागृत हुई थी।

हिंडोला में संयोग-शृङ्गार का चित्रण है। इस रचना में रत्नाकर जी ने अपनी दार्शनिक एवं धार्मिक भावनाओं का समावेश किया है, जिससे काव्य-गत शृङ्गार-वर्णन, शृङ्गार मात्र न रह कर अध्यात्म की ओर अग्रसर हुआ है। उनके दार्शनिक, एवं धार्मिक विचारों का विवरण हम आगे करेंगे।

रत्नाकर जी रीतिकालीन कवि होते हुए भी भक्त थे। भक्तिकालीन कवियों में वे नन्ददास से पर्याप्त प्रभावित थे। हिंडोला में नन्ददास के 'रास पञ्चाध्यायी' की स्पष्ट छाप है तथा दोनों में पर्याप्त साम्य भी है।

नन्ददास कृत 'रास पञ्चाध्यायी' भी रोला छंदों में है और हिंडोला भी। रास पञ्चाध्यायी और हिंडोला दोनों में ही गोप-ललनाओं एवं कृष्ण का चित्रण वृन्दावन में हुआ है। नंददास ने अपने साम्प्रदायिक विचारों की यथार्थता सिद्ध करने की चेष्टा की है, किंतु रत्नाकर जी ने इसके लिये विशेष प्रयास नहीं किया। यद्यपि उनकी साम्प्रदायिकता इस कृति में परिलक्षित है। रत्नाकर जी ने माधुर्य भाव की पूर्ण अभिव्यञ्जना कर दी है और उसे पढ़कर लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है। रत्नाकर जी भाव एवं भाषा में नन्ददास के समान हैं। रत्नाकर जी की यह प्रथम कृति थी और नन्ददास का रास-पञ्चध्यायी उनकी प्रौढ़-कृति, अतः उससे इसकी कला की तुलना उचित नहीं, किन्तु फिर भी रत्नाकर जी नन्ददास की कला से किसी भी पक्ष में कम नहीं। यह दृश्य-चित्रण ही है, अतः यह निर्बन्ध-काव्य के अन्तर्गत ही आता है।

२. कलकाशी

कलकाशी की रचना की प्रेरणा इन्हें हरिश्चन्द्र काव्य की रचना के समय ही हुई थी। भारतेन्दु जी ने अपने 'सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक में काशी का वर्णन अपने पिता के ४ सवैयों तथा अपने १६ छंदों में किया है किन्तु रत्नाकर जी ने केवल दो पंक्तियों में ही काशी-वर्णन किया है। अपनी जन्म-भूमि के प्रति अपनी आसक्ति को वे व्यक्त करने के लिये आकुल हो उठे और कलकाशी की रचना हुई। यद्यपि रचना-काल ज्ञात नहीं है तथापि हरिश्चन्द्र के बाद ही इसको स्थान देना उचित प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है, ये हरिश्चन्द्र के साथ ही इसकी रचना करते रहे हों और इसी कारण इन्होंने अपने हरिश्चन्द्र काव्य में काशी का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया। बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने रत्नाकर में कलकाशी को हरिश्चन्द्र काव्य के उपरान्व ही स्थान दिया है। कलकाशी का विस्तार १४१ छंदों में है तथा १४२ वें रोला में तीन ही पंक्तियाँ रह गई हैं। पता नहीं क्यों चौथी पंक्ति नहीं जोड़ी। इनके जीवन-काल में यह प्रकाश में न आया था। यह केवल वर्णन मात्र है। प्राचीन नाम गिनाने की पद्धति में इसकी रचना हुई है। यह इस छंद से स्पष्ट है:—

बासमती कौ भात रमुनियां दाल सवाँरी।
कढ़ी पकौरी परी कचौरी मोयन वारी॥
दधि भीने बरवरे बरी सह साग निमोने।
पापर अति परपरे चने चरपरे सलोने॥५८॥
नीबू आम अचार-अम्ल मीठे रुचिकारी।
चटनी चटपट अ-रस स-रस लटपट तरकारी॥
मोदक मोतीचूर जाल-जुत मालपुवा तर।
मेवामय श्रीखण्ड केसरिया खीर मनोहर॥५९॥

ऐसे वर्णन में कवि की शुष्क बहुज्ञता ही परिलक्षित होती है। कोमल, सरल एवं हार्दिक अनुभूतियों का इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि काशी का इसमें विशद एवं चमत्कारपूर्ण वर्णन है, फिर भी रसोद्रेक करने में पूर्णरूप से यह समर्थ नहीं। किंतु वर्णन की विदग्धता के कारण नीरसता भी नहीं उत्पन्न होती। रत्नाकर जी का यह एक शुद्ध निबन्धात्मक काव्य है।

३. समालोचनादर्श

सर्वप्रथम इसका प्रकाशन ना० प्र० पत्रिका के प्रथम वर्ष के तृतीय अंक में हुआ था। ग्रन्थ के आरम्भ में यह अनुवाद मात्र है, पुनः रत्नाकर जी ने तत्कालीन कवियों तथा समालोचकों की विवेचना की है।

यह काव्य-कृति मौलिक नहीं है, प्रत्युत् पोप के 'ऐसेज आन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद है, यद्यपि अनुवाद में भारतवर्षीय कवियों के नाम रख दिये गए हैं। भरत, वाल्मीकि, कालिदास, श्रीहर्ष, पंडितराज जगन्नाथ, शुकदेव, पद्माकर विहारी लाल, ठाकुर, नागेश भट्ट, केशवदास, भारतेंदु इत्यादि नामों का उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकार यह पूर्ण रूप से भारतीय सांचे में ढाल दिया गया है और मौलिक कृति न होते हुए भी अनुवाद में ही मौलिकता है।

रत्नाकर जी ने केवल यही ग्रन्थ अनुवाद किया है। अनुवाद की दृष्टि से यह पूर्ण सफल कृति है। अनुवाद शाब्दिक करने का उद्योग किया गया है तथा पोप के सिद्धांतों का ही इसमें स्पष्टीकरण हुआ है। रत्नाकर जी ने समालोचना में पोप के सिद्धांतों को ही आदर्श माना है। तभी इसका नाम समालोचनादर्श रखा। रत्नाकर के युग में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त महत्त्व था। सर्वप्रथम रत्नाकर जी ने ही हमें पाश्चात्य समालोचना सिद्धान्तों से परिचित कराया। श्रीवार्ष्णेय के शब्दों में "पाश्चात्य समालोचना-सिद्धांतों से परिचित कराने का श्रीगणेश रत्नाकर जी द्वारा हुआ।"[१]

अतः रत्नाकर जी के इस अनुवाद का हिंदी-साहित्य के इतिहास में पर्याप्त महत्व है। बख्शीजी की पुस्तक 'विश्व-साहित्य' इसी साहित्य की दूसरी कड़ी है।

---

१. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, डा० वार्ष्णेय।

प्रबन्ध मुक्तक

उद्धवशतक

यह कवि की मार्मिक अनुभूतियों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसकी रचना क्रम से नहीं हुई है। रत्नाकर जी उद्धव-गोपी-संवाद-सम्बन्धी जब तब दो-एक छंद लिखा करते थे। भूमिका में रत्नाकर जी ने लिखा है, सम्वत् १९७८ के आरम्भ में मेरा एक सन्दूक हरिद्वार में चोरी चला गया, जिसमें अन्यान्य सामग्री के साथ मेरे कवित्तों की एक चौपतिया भी जाती रही। उसमें ५०० से ऊपर कवित्त थे। इन्हीं में उद्धवशतक के कवित्त भी सम्मिलित थे। उसमें से दो ढाई सौ कवित्त तो ज्यों के त्यों स्मरण करके दूसरी चौपतिया पर लिख दिये गये"। ....।[१]

उद्धवशतक को भ्रमर गीत-परम्परा में ही रखा गया है। यद्यपि उद्धव-शतक में भ्रमर का संदर्भ लेशमात्र नहीं है, केवल एक छंद में गुनगुन ध्वनि उपस्थित हो गई है, तथापि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ४६ वें तथा ४७ वें अध्यायों के आधार पर उद्धव-गोपी-संवाद को भ्रमरगीत कहा गया है। सूरदास, नंददास, हित वृन्दावन दास, रीवाँनरेश रघुराज सिंह, सत्य-नारायण 'कविरत्न' आदि की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। देव, मतिराम, पद्माकर आदि ने भी इस परम्परा पर काव्य रचे। इसमें ११८ घनाक्षरियाँ हैं। यद्यपि इसमें एक-एक छंद का पृथक् अस्तित्व एवं महत्व है तथापि क्रम-बद्ध समष्टि रूप में, इन छंदों में कथा-प्रवाह भी प्राप्त होता है। उद्धव-शतक काव्य की कथा को रत्नाकर जी ने निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है :—

१. उद्धव का मथुरा से व्रज जाना। कृष्ण के वियोग का चित्रण है। २० छंद।

२. उद्धव की व्रज-यात्रा। ३ छंद।

३. उद्धव का व्रज में पहुँचना। ६ छंद।

४. उद्धव के व्रज-नारियों से वचन। ४ छंद।

---

१. उद्धवशतक की भूमिका।

५. उद्धव के प्रति गोपियों के वचन। ६३ छंद।

६. उद्धव की व्रज विदाई। ५ छंद।

७. उद्धव का मथुरा लौटना। ६ छंद।

८. उद्धव के वचन श्री भगवान प्रति। ६ छंद।

इस प्रकार शीर्षकों को देखकर भी यही निश्चित होता है कि सम्पूर्ण छंदों से कथा की सृष्टि की गई है। उद्धवशतक में कवि ने अपनी धार्मिक भावना को व्यक्त किया है। इसमें निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। उद्धव का निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का सदुपदेश गोपिकाओं के श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण विश्वास के समक्ष निरर्थक सिद्ध होता है। स्वयं उद्धव, कृष्ण को संदेश न देना होता तो कहीं व्रज में ही कुटी बनाकर रहते:—

छावते कुटीर कहूँ रम्य यमुना के तीर
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै 'रतनाकर' बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़,
स्त्रौन रसना में रस और भरते नहीं॥
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हूँ नैकु डरते नहीं॥
होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ,
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं॥११७॥

निर्गुण की यही पराजय रत्नाकर जी के सम्प्रदाय की विशेषता है और यही उद्धवशतक की महत्ता है। रत्नाकर जी ने ज्ञान-भक्ति, निर्गुन-सगुण के प्राचीन संघर्ष को कलात्मक रूप में चित्रित कर भक्तिपूर्वक सगुणोपासना को श्रेष्ठता प्रदान की है।

सूर की भक्ति-भावना समुद्र की एक लहर है। जो अनायास ही उमड़कर तट-प्रान्त को जलमय कर देती है। प्रबल भक्ति की लहरें बंधनों के तट को तोड़ असीमित हो जाती हैं और ज्ञान एक उच्च, गम्भीर एवं गहन पर्वत है जो तट पर स्थित है, वह भक्ति-लहरों के इस आवेग को रोकने में असमर्थ है तथा स्वयं ही जल-तरंग में तरल हो उठता है।[1] रत्नाकर का उद्धव-ज्ञान रूपी गम्भीर गहन पर्वत, गोपियों की पागल तन्मय भक्ति की असीम सागर-लहरों से तरल हो उठता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति रत्नाकर जी ने बड़े ही कलात्मक, अनुभूतिपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी ढंग से की है।

---

१. मानस दर्शन, डा० एस० के० लाल, पृ० १०६।

"हिन्दी-साहित्य की अमूल्य एवं सर्वश्रेष्ठ विभूति तुलसीदास जी भी ज्ञान-भक्ति, निर्गुण-सगुण के इस विभेद को सम्यक् ढंग से उपस्थित करने में असमर्थ रहे। पहले ज्ञान-भक्ति, निर्गुण-सगुण तथा जीव-ब्रह्म में अभेद स्थापित किया है और बाद में भेद स्थापित कर ज्ञान से भक्ति को, निर्गुण से सगुण को, तथा जीव से ब्रह्म को श्रेष्ठ सिद्ध किया है किन्तु इसके दृष्टांत लेने में उन्होंने कुछ भूलें कर दीं और तर्क भी तर्कपूर्ण न होकर व्यावहारिक-सा हो गया है।" [1] इसके विपरीत रत्नाकर जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इस संघर्ष में भक्ति एवं सगुण की महत्ता सिद्ध की है। उनका तर्क परिपुष्ट है। उद्धव जैसे निर्विकार निर्लिप्त निर्गुणवादी के ऊपर उन्होंने सगुण की सरसता का जैसा मार्मिक प्रभाव दिखलाया है वह निम्नलिखित छन्द में व्यक्त हुआ है :—

दुख सुख ग्रीषम औ सिसिर न व्यापैं जिन्हें,
छापै छाप एकै हिये ब्रह्म-ज्ञान-साने मैं।
कहै "रतनाकर" गँभीर सोई ऊधव कौ,
धीर उधरान्यो आनि ब्रज के सिवाने मैं।
औरे मुख-रंग भयो सिथिलित अंग भयो,
बैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं।
पुलकि पसीजि पास चाँपि मुरझाने काँपि,
जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं ॥२५॥

रत्नाकर जी ने राधा को प्रेम की अधिष्ठात्री देवी माना है। उद्धव का निर्विकार तथा भावना-हीन हृदय क्रमशः कृष्णमय वातावरण के प्रभाव मात्र से द्रवीभूत हो जाता है। यही पाषाण-हृदय उद्धव क्रमशः गोपिकाओं की अनन्य भक्ति के साँचे में ढलकर पत्थर से सूर्यकान्त मणि बन जाते हैं। उनकी भक्ति-साधना का यही अन्तिम परिणाम है—

भाठी कै बियोग जोग जटिल लुकाठी लाइ,
लाग सों सुहाग के अदाग पिघलाए हैं।
कहे 'रतनाकर' सुवृत्त प्रेम साँचे माहिं,
काँचे नेम संयम निवृत्ति के ढराये हैं॥
अब परि बीच खींचि बिरह-मरीचि बिंब,
देत लव लाग की गुबिन्द उर लाये हैं।

---

१. मानस दर्शन : डा० एस० के० लाल, पृ० १०१...'...१३४।

गोपी ताप तरुन तरनि किरनावलि के,
ऊधव नितान्त कान्त-मनि बनि आये हैं ॥११८॥

उद्धव-शतक में करुण रस का सरस परिपाक हुआ है। आदि से अन्त तक विप्रलम्भ शृङ्गार का ही चित्रण है। जिसमें अत्यन्त स्वाभाविक एवं कोमल भावनाओं की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। भवभूति करुण रस को ही प्रधानता देते हैं। आदिकवि का आदि काव्य करुण-रस में ही व्यक्त हुआ था। पी० बी० शैली ने भी कहा है:—

"Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts."

शृङ्गार से भी अधिक करुण-रस मानव अन्तः को प्रभावित करने में समर्थ होता है। उद्धवशतक में भी यही विशेषता है। उसे जितनी बार भी पढ़ा जायगा उसमें नीरसता का आभास न आने पायगा, वरन् प्रत्येक बार नवीन अनुभूति-पूर्ण आनन्द प्राप्त होता रहेगा। प्रायः कवियों ने गोपिकाओं के वियोग-पक्ष का ही चित्रण किया है। किंतु रत्नाकर जी ने कृष्ण के वियोग-पक्ष का चित्रण करके अपने सूक्ष्म-मनोवैज्ञानिक ज्ञान का परिचय दिया है। सूर के उद्धव गोपिकाओं के उपालम्भ को चुप-चाप सुनते जाते हैं, जो वास्तविकता से दूर जा पड़ता है। रत्नाकर का युग तर्क-प्रधान था। अतः रत्नाकर जी ने तार्किक दृष्टिकोण ही ग्रहण किया और इनके उद्धव आज के वास्तविक जगत् के अनुकूल सिद्ध हुए हैं।

करुण रस प्रधान होते हुए भी उद्धवशतक में गोपिकाओं के उपालम्भ में हास्यरस का भी परिपाक हो गया है; साथ ही कवि ने कथा के सभी अंगों पर समान दृष्टि रखी है। उद्धव के प्रति गोपियों के वचन में ही ६३ छंद हैं और यही प्रसंग वास्तव में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होने में समर्थ है। अतएव इसी का विस्तार भी हुआ है। इससे काव्य में सौष्ठव आ गया है। उद्धवशतक कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है तथा हिंदी-साहित्य का एक अनुपम ग्रंथ है। यों तो रत्नाकर जी शृङ्गार-परम्परा के कवि थे किंतु उद्धव-शतक की रचना के पश्चात् वे भक्तिकालीन कवियों से भी पीछे नहीं रहे। उद्धव-शतक में दोनों परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। इसकी रचना से 'रत्नाकर' की प्रतिभा सफल हो गई। उद्धव-शतक के रूप में रत्नाकर जी ने हिंदी-साहित्य को ११८ अनुपम रत्नों का भंडार प्रदान किया है। रत्नाकर जी की सबसे बड़ी सफलता यह है कि इतना प्राचीन विषय होने पर भी इन्होंने इसे नया रूप प्रदान किया है। वाग्-विदग्धता के कारण मौलिकता आ गई है। रत्नाकर जी ने मधुर एवं नवीन उक्तियों का प्रयोग किया है। रत्नाकर जी की सबसे बड़ी

विशेषता चित्रोपमता है और वह इस काव्य में विशेष रूप से प्रदर्शित हुई है। संगीतात्मकता इसकी मुख्य विशेषता है।

सूरसागर का कथा-भाग अरोचक है, विहारी-सतसई में आध्यात्मिकता के अभाव में कई स्थलों पर अश्लीलता आ गई है, किंतु उद्धव-शतक में ये दोष नहीं हैं।

———

मुक्तक

लहरी त्रय

रत्नाकर जी की मुक्तक रचनाओं में सर्वप्रथम लहरी त्रय का ही स्थान आता है। इन लहरियों का रचना-उद्देश्य धार्मिक ही कहा जा सकता है। श्रृङ्गार लहरी में अपने इष्टदेव की आनन्दमयी-लीला का वर्णन धार्मिक भावना की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ है। इसका रचना-काल अज्ञात है। किंतु २८ सितम्बर १९२२ की माधुरी में गंगा लहरी के कुछ छंद प्रकाशित हुए थे। अतः उनके रचना-काल के उत्तरार्ध के आरम्भ से ही इन लहरियों की रचना आरम्भ हुई। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में १९३२ में रत्नाकर के शीघ्र प्रकाशित होनेवाले दो ग्रंथों का उल्लेख किया है। श्रृङ्गार-शतक तथा गंगा-विष्णु शतक। रत्नाकर जी रसाल जी के मित्र थे। अतः मित्र की बात असत्य न थी। कदाचित् अपनी असमय मृत्यु के कारण ही वे इन्हें प्रकाशित न कर सके। बा० श्यामसुन्दर दास जी ने श्रृङ्गार लहरी एवं गंगा-विष्णु लहरी नाम उचित ही दिये हैं। रसाल जी ने गंगा-विष्णु को एक ही में मिलाकर शतक रूप प्रदान किया जो उचित भी है, कारण, दोनों की ५२-५२ छंद की सम्मिलित संख्या शतक का रूप पाने में समर्थ ही है। श्रृङ्गार लहरी में १४० घनाक्षरी तथा २२ सवैया छंद हैं। अर्थात् कुल १६८ छंद। लगभग २०० की संख्या को शतक नाम देना उचित नहीं। किंतु श्रृङ्गार-लहरी में आई हुई ५२ समस्या-पूर्तियाँ रत्नाकर जी द्वारा सम्पादित समस्यापूर्ति भाग १ में आ चुकी थीं। अतः यदि हम श्रृङ्गार-लहरी में समस्यापूर्तियों को न सम्मिलित करें (और जो उचित भी है) तो कुल ११६ छंद रह जाते हैं। इनके अतिरिक्त छंद संख्या ६२–६६ भी समस्यापूर्ति ही प्रतीत होते हैं, कारण भारतेंदु जी ने भी इसकी पूर्ति की है। समस्या है, 'प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाये लेति।' १०० वाँ छंद भी समस्यापूर्ति ही जान पड़ता है, जिसकी, 'खेल मत जानौ यह बेल बिरहा की है', समस्या कवि-समाज द्वारा दी गई थी, किंतु वह समस्या-पूर्ति-संग्रह में किसी कारणवश प्रकाशित न हुआ। १७, ५७, १०९ संख्यक छंद अपूर्ण ही हैं। इस प्रकार

इन ६ छंदों को भी अलग किया जा सकता है। शेष ११० छंद शतक का रूप पा सकते हैं। श्रृङ्गार एवं उद्धव शतक के सादृश्य पर ही गंगा एवं विष्णु-लहरी को मिलाकर शतक का रूप प्रदान करने का भाव निहित प्रतीत होता है, किंतु बा० श्यामसुन्दर दास ने इनका 'लहरी' के साथ नामकरण किया है।

श्रृंगार लहरी

नाम से ही स्पष्ट है कि यह श्रृङ्गार वृत्ति की कृति है। आरम्भ से अंत तक श्रृङ्गारिक भावनाओं का ही विविध रूप में चित्रण किया गया है। श्रृंगार रस के संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों का चित्रण है। जहाँ वियोग-पक्ष की अति है, वहाँ संयोग-पक्ष का मनोरम चित्रण भी। उदाहरणार्थ नीचे के दो छंद देखे जा सकते हैं--

लागत न नैकुँ हाय औषध उपाय कोऊ,
झूठी झार फूँकहू फकीरी परी जाति है।
कहै 'रतनाकर' न बैरी-हू बिलोकि सकैं,
ऐसी दसा माँहिं सो अहीरी परी जाति है॥
रावरौ हू नाम लिएँ नैननि उघारै नाहिं,
आह औ कराह सबै धीरी परी जाति है।
पीरी परी जाति है वियोग-आगि हू तौ अब,
बिकल विहाल बाल सीरी परी जाति है॥१०७॥

तथा

जरद चमेली चारु चम्पक पै ओप देति,
डोलति नवेली हुती सदन-बगीची मैं।
कहै 'रतनाकर' सुदुति सुषमा की जाकी,
दमकि रही है दिव्य पूरब प्रतीची मैं॥
भुज भरि लीनी रसदानि आनि औचक ही,
लरजि लरजि परी बाम खींचा-खींची मैं।
हिरकि रही है श्याम अंक मैं ससंक मनौ,
थिरकि रही है बिज्जु बादर-दरीची मैं॥१४॥

श्रृङ्गार लहरी का प्रत्येक छंद एक सुन्दर चित्र उपस्थित कर देता है। कहीं नायिका वंशी के मधुर स्वरों से व्याकुल हो इधर-उधर घूमती है, कहीं नायिका की दूती नायक की दीनावस्था का चित्रण कर उससे मिलने के लिये प्रेरित

करती है, कहीं नायक नायिका का नाम सुनकर चौंक उठता है, तो कहीं नायिका वियोग में अन्तिम साँसें गिन रही है।

होली और हिंडोलोत्सव शृंगारिक भावनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। अतः इन उत्सवों के अन्तर्गत नायक-नायिका की क्रीड़ाओं का वर्णन किया गया है। शृंगार-लहरी में रीतिकालीन कवियों के समान उदात्त शृंगारिक भावनाओं का प्राचुर्य नहीं है और भक्ति-कालीन कवियों के समान मर्यादित रूप भी नहीं है, दोनों की काव्यगत विशेषताओं की सुन्दर मिश्रित भावना इसमें उपस्थित है। देव, बिहारी और पद्माकर का स्पष्ट प्रभाव इन पर लक्षित होता है। सोकर उठी हुई नायिका का चित्रण इन्होंने इन कवियों के समान ही किया है। शृंगार लहरी का हिंदी-साहित्य में पर्याप्त महत्त्व है।

गंगा तथा विष्णु लहरी

इन लहरियों की रचना पंडितराज जगन्नाथ के साहित्य की प्रेरणा से सम्भव हुई है। पंडितराज ने करुणा-लहरी, अमृत लहरी, गंगा लहरी आदि की रचना की है। वस्तुतः रत्नाकर जी पद्माकर की गंगा लहरी से भी प्रभावित हुए थे।

रत्नाकर जी में अहम् की भावना न थी। इन रचनाओं में उनकी विनम्रता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। दैन्य भाव से आत्म-निवेदन इनमें नहीं था। काशी में गंगा का पर्याप्त महत्त्व है। अतः गंगा के प्रति श्रद्धा-भक्ति होना स्वाभाविक ही था। गंगावतरण १९२१ में ही प्रकाशित हो चुका था किंतु वह प्रबंध प्रधान कृति थी। उसमें कवि मुक्त रूप से अपना आत्म-निवेदन न कर सके थे। उसकी पूर्ति गंगा लहरी में हुई। अतः गंगा लहरी को गंगावतरण का पूरक मानना अनुचित न होगा।

वैष्णव धर्म से प्रभावित रत्नाकर जी के इष्टदेव कृष्ण एवं विष्णु में कोई अन्तर न था। अतः विष्णु के प्रति श्रद्धाभक्ति की भावाभिव्यक्ति विष्णु लहरी में मुक्त रूप से हुई है। उसके छंद दास्य भक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं।

रत्नाष्टक

१६ रत्नों का भावानुभूतिपूर्ण वर्णन रत्नाष्टक में हुआ है। शारदा, गणेश श्रीकृष्ण, गजेन्द्र, यमुना, सुदामा, द्रौपदी, तुलसी, बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, प्रभात एवं संध्या के वर्णन हैं। कृष्णाष्टक में ९ छंद, द्रौपदी में ११ तुलसी में ७ छंद हैं। किंतु ७, ९, ११ छंदों को भी अष्टक में ही कहा गया है। ६ अष्टकों द्वारा षट् ऋतु वर्णन, दो अष्टक संध्या एवं प्रभात सम्बंधी

तथा ८ में धार्मिक एवं पौराणिक नायकों का चित्रण है। रत्नाकरजी की धार्मिक भावना से ही यह अष्टम प्रेरित हुए हैं। तत्कालीन आचार्य शुक्ल जी की प्रेरणा से प्रकृति सम्बंधी इन अष्टकों का निर्माण हुआ।

विभिन्न समयों में, विभिन्न पत्रिकाओं में इसके छंद प्रकाशित होते रहे, जिनका उल्लेख रचना-काल के अन्तर्गत है। उससे स्पष्ट है कि इन रत्नाष्टकों की रचना सन् १९२३ से २७ ई० तक हुई होगी। ये अष्टक काव्य एवं कला की दृष्टि से उत्कृष्ट-रचनाएँ हैं। प्रकृति-चित्रण रीति-कालीन परिपाटी का न होकर आधुनिक युग का पुट लिये हुए है। कदाचित् सेनापति के प्रकृति-वर्णन का प्रभाव इन पर पड़ा था। किंतु कई स्थलों पर रत्नाकर जी की महत्ता अधिक है।

वीराष्टक

इसमें १३ ऐतिहासिक वीर तथा वीरांगनाओं का वर्णन है। रचनाकाल अज्ञात है, किन्तु वीर अभिमन्यु १९२८ में विशाल भारत में प्रकाशित हुआ था। अतः ज्ञात होता है कि रत्नाष्टक के साथ-साथ वीराष्टकों की रचना भी हुई। राष्ट्रीय आंदोलनों आदि के प्रभाव से रत्नाकर जी की राष्ट्रीयता प्राचीन वीरों के गौरव-गान द्वारा प्रस्फुटित हुई। इसमें श्रीकृष्ण दूतत्व, भीष्म प्रतिज्ञा, जयद्रथ वध के साथ, वीर अभिमन्यु, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, श्री गुरु गोविंद सिंह, महाराज छत्रसाल, महारानी दुर्गावती, सुमति, वीरनारायण, नील देवी, महारानी लक्ष्मीबाई आदि वीर एवं वीरांगनाएँ हैं। यद्यपि इसे वीराष्टक नाम दिया गया है तथापि प्रत्येक में ८-८ छंद पूर्ण नहीं हैं। अतः इसे अपूर्ण मानना उचित प्रतीत होता है, कारण सुमति में १, वीरनारायण में २ तथा श्री ताराबाई में ३ ही छंद हैं। जयद्रथ वध तथा महाराणा प्रताप में ११-११ और गुरु गोविंद सिंह में १० छंद प्रयुक्त हुए हैं।

इन वीराष्टकों में वीर रस का परिपाक पूरी सुन्दरता के साथ हुआ है। वीर रस के परिपाक में, प्राचीन पद्धति के अनुसार कर्णकटुध्वनियों तथा संयुक्ताक्षरों का बाहुल्य उचित माना जाता है, जिसके फलस्वरूप काव्य में वीर रस का परिपाक स्पष्ट लक्षित होता था, किंतु रत्नाकर जी की कुशलता इसी में है कि इन्होंने कर्ण कटु शब्दों को नहीं अपनाया। मधुरध्वनियों के माध्यम से ही इन्होंने वीररस का पूर्णरूप से परिपाक प्रस्तुत कर दिया है। इनकी मधुर ध्वनियाँ उत्साहवर्धन में सहायक सिद्ध हुई हैं। इनके भाव भी उत्साह-वर्धक हैं। ब्रज-भाषा में ये वीर रस के सुन्दर उदाहरणों में रखे जा सकते हैं।

प्रकीर्णक पद्यावली

विभिन्न समयों में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित व अप्रकाशित छंदों को सामूहिक रूप में रख उसे बा० श्यामसुन्दर दास जी ने प्रकीर्ण पद्यावली नाम प्रदान किया है। कुछ छंदों का समय भी दिया गया है। कुछ छंद जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए उनका उल्लेख रचना-काल में हुआ है। अनुमान से इसका रचना-काल भी सन् १६२५ से उनकी मृत्यु पर्यन्त माना जा सकता है। इन स्फुट पद्यों में से कुछ में नवीन प्रवृत्तियों का भी समावेश हुआ है। उदाहरणार्थ, २६ वें तथा ३० वें छंद गांधी जी विषयक हैं। ३ युग की बात भी कही गई है। भारत शीर्षक में आए हुए छंदों में राष्ट्रीयता ही है। सम्पूर्ण पद्यावली १८ शीर्षकों में विभक्त है। श्री राधा विनय ३, श्रीव्रज-महिमा ६, श्रीराम विनय १, श्रीअयोध्या-महिमा १, श्रीशिव-वंदना ५, श्रीकाशी महिमा ५, श्रीहनुमद महिमा ६, श्रीहरिश्चंद्र १, श्री ज्वालामुखी विनय ३, श्रीसती महिमा १; दीपक ४, भारत ४, शुद्धि ३, अन्योक्ति १, शांत रस १, गंगा गौरव २ और स्फुट काव्य ६३ (इनमें कुछ छंदों का समय दिया गया है) छंद हैं। सन् १६३० से १६३२ तक का समय इसके अंतर्गत आता है। उनका अंतिम छंद १६-६-३२ का लिखा हुआ भी इनके अंतर्गत है। दोहावली में २२ दोहे हैं।

धार्मिक विचार की उदारतावश इन्होंने राम, अयोध्या, शिव, काशी, हनुमद महिमा, सती महिमा, गंगा गौरव आदि वर्ण्य विषयों को अपनाया है। विहारी के अनुकरण पर दोहों का निर्माण हुआ है। प्रकीर्णक पद्यावली में संगृहीत छंद सुन्दर मुक्तक छंद माने जा सकते हैं।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित लेख

साहित्यिक लेख

१. रोला छन्द के लक्षण

यह नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भाग ५, अंक १ में प्रकाशित हुआ था। इसकी प्रेरणा उनके लेख के आरम्भ के इस कथन से स्पष्ट है।

काशी साहित्य विद्यालय (अब, भगवानदीन साहित्य विद्यालय) ने नागरी-प्रचारिणी-सभा से पूछा था कि रोला पद में ११ वीं मात्रा पर विरति होनी चाहिए या नहीं। सभा ने विद्यालय का यह पत्र श्रीयुत् जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए० के पास भेज दिया था। रत्नाकर जी ने उस पत्र का जो उत्तर भेजा है, सर्वसाधारण की जानकारी के लिए वह नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित किया गया है।

इस लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि रोला में प्राकृत छंद के अनुसार ११ मात्राओं पर विरति का होना आवश्यक नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए प्रथम उन्होंने 'प्राकृत पिंगल सूत्राणि' एवं काशी भूषण के आधार पर विचार किया है। प्राकृत के अन्य पिंगल ग्रन्थों में रोला के लक्षण नहीं दिये गए हैं, उदाहरणार्थ-श्रुतबोध, पिंगल सूत्र वृत, रत्नाकर छंदोमञ्जरी आदि। हिंदी के पिंगल ग्रंथों में सुखदेव का 'वृत-विचार' तथा भास के छंदार्णव के पिंगल को विशेष विचारार्थ अपनाया है। रत्नाकर जी ने निष्कर्ष इस प्रकार से दिया है:—

"रोला छंद में ११ मात्राओं पर विरति का होना आवश्यक नहीं है पर यदि हो तो ऊँची बात है।" इस लेख में उनके छंदःशास्त्र का ज्ञान एवं सूक्ष्म विवेचना का आभास मिलता है।

२. महाकवि विहारी लाल जी की जीवनी

नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भाग ८ में प्रकाशित यह लेख, बाद में विहारी-रत्नाकर की भूमिका में जोड़ दिया गया है। लेख के शीर्षक से स्पष्ट है कि यह महाकवि विहारीलाल जी की जीवनी ही है।

३. बिहारी सतसई-सम्बन्धी साहित्य

यह लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के भाग ६ और १० में प्रकाशित हुआ था। लगभग २०० पृष्ठों में इस लेख का विस्तार है। सम्पूर्ण वर्ण्य विषय ३ शीर्षकों में विभाजित है। १. सतसई का क्रम, २. बिहारी सतसई की टीकाएँ तथा ३. बिहारी पर स्फुट लेख।

४. साहित्यिक व्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री

यह लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के भाग १० में प्रकाशित हुआ था, किन्तु यह रायबहादुर डा० गौरीशंकर हरीचन्द ओझा द्वारा संपादित कोषोत्सव स्मारक संग्रह में भी है। प्रारम्भ में शौरसेनी, पैशाची एवं मागधी से व्रजभाषा तक का विकास दिखाया गया है।

आर्य सभ्यता के विस्तार के कारण विभिन्न प्रान्तों की बोलियों में अन्तर हो गया। भाषाओं के केंद्र व प्रकार बने, १. शौरसेनी, २. मागधी, और ३. पैशाची। कालान्तर में इन केन्द्रों के प्रान्तों की बोलियों में अन्तर आया। कवियों की कृतियाँ सभी प्रान्तों में पढ़ी जा सकें, इस उद्देश्य से केन्द्रों में एक-एक साहित्यिक भाषा तथा बोलियाँ बन गईं। महाराष्ट्री प्राकृत का निर्माण तीनों को मिश्रित करके किया गया। इन सब में इन्होंने शौरसेनी को ही श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण बताया है। शनैः शनैः साहित्यिक भाषा जनसाधारण के लिए कठिन होती गई और अपनी आर्य बोली में साहित्य-रचना प्रारम्भ हुई तथा तीन प्रादेशिक भाषाओं का निर्माण हुआ। चंद, वररुचि, हेमचन्द तथा विक्रम के प्राकृत व्याकरणों द्वारा प्राकृत के विकास का पता चलता है। इसी व्याकरण से च्युत होने के कारण प्रादेशिक भाषाओं को अपभ्रंश कहा गया।

शनैः शनैः महाराष्ट्री प्राकृत के ढंग की एक साहित्यिक अपभ्रंश बनी, जिसका मुख्य ढंग शौरसेनी ही था, जिस कारण से प्राकृत से अपभ्रंश बनी, उसी कारण से अपभ्रंश से भी एक प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय भाषा का निर्माण हुआ। यह भाषा संस्कृत, प्राकृत-राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रादेशिक भाषाओं से मिलकर बनी थी। इसका व्याकरण भी शौरसेनी के अनुरूप था, यह सिद्ध किया जा चुका है।

बिहारी सतसई की टीकाएँ तथा बिहारी पर स्फुट लेख

रत्नाकर जी बिहारी पर एक पुस्तक तैयार करना चाहते थे। उनकी यह इच्छा अब श्रीयुत् रामकृष्ण जी (उनके पौत्र) ने पूर्ण कर दी है। वास्तव में उपर्युक्त शीर्षक में विभक्त ये लेख अलग-अलग स्वतंत्र लेख भी हैं।

आरम्भ में रत्नाकर जी इसे, बिहारी रत्नाकर' की भूमिका के रूप में लिख रहे थे किन्तु विस्तार बढ़ता ही गया और विहारी-रत्नाकर में यह प्रकाशित न हो संका। इसके विस्तार का कारण तत्कालीन देव-विहारी की श्रेष्ठता का विवाद तथा उनकी गवेषणात्मक एवं· ऐतिहासिक रुचि थी। साथ ही रत्नाकर जी बिहारी को अपना आदर्श कवि भी मानते थे।

'सतसई के क्रम' में रत्नाकर जी ने 'बिहारी रत्नाकर' के क्रम को ही बिहारी का क्रम सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने उन सात प्रतियों की विस्तृत विवेचना की है जिनके आधार पर 'विहारी रत्नाकर' में क्रम निश्चित किया गया है। श्रीकृष्णलाल की संपादित टीका, 'मानसिंह की बिहारी सतसई' और आनंदी लाल जोशी जी की प्रति को रत्नाकर जी ने विशेष महत्व दिया है। १०६ पृष्ठ के इस लेख में रत्नाकर जी ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि इन में बिहारी के वास्तविक क्रम का ही अनुसरण हुआ है।

'बिहारी सतसई की टीकाएँ' नामक लेख में उन्होंने ५३ टीकाओं का उल्लेख किया है, जिनमें संस्कृत गद्य-पद्य, उर्दू गुजराती तथा हिंदी, सभी भाषाओं में की गई टीकाओं का सूक्ष्म-विवेचन भी रत्नाकर जी ने किया है।

इन पृष्ठों में लिखे गए विहारी पर स्फुट लेख में रत्नाकर जी ने विभिन्न समयों एवं विद्वानों द्वारा लिखे गए २३ लेखों का विवरण भी दिया है। रत्नाकर जी ने देव के समर्थकों एवं विहारी के विरोधियों का परिचय निष्पक्ष भाव से दिया है। इससे रत्नाकर जी की उदारता का परिचय मिलता है और उनके सत्समालोचक होने में संदेह नहीं रहता।

इस प्रकार आरम्भ से ही शौरसेनी की प्रधानता रही तथा कालान्तर में व्रज में कविता का अत्यधिक प्रचार बढ़ा। यह साहित्यिक व्रज-भाषा ही मुख्य साहित्यिक शौरसेनी भाषा बन गई। अष्टछाप के कवि, स्वामी हित-हरिवंश, हरिदास जी, व्यास जी, भगवतरसिक जी तथा विहारी और दास इस भाषा के प्रमुख कवि हुए। किंतु तत्कालीन व्रजभाषा आरम्भिक दशा अथवा बाल्यावस्था होने के कारण दोषयुक्त थी, उन्हीं दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। व्याकरण का अभाव था। रत्नाकर जीने साहित्यिक भाषा के अनुकूल कुछ युक्तियाँ बताई।

१. प्रयोग बाहुल्य ग्रहण। २. शिष्ट प्रयोग ग्रहण। ३. लोक व्यवहार ग्रहण। ४. पूर्वरूप। ५. आपत्प्रयोग परित्याग। ६. आपत्प्रयोगानुकरण-

परित्याग । ७. संदिग्ध प्रयोग परित्याग । ८. सांसर्गिक पद का परित्याग तथा ९. लेख लाघव प्रयोग परित्याग ।

सूर के समय की भाषा अव्यवस्थित थी और कोई नियम उपलब्ध न थे। रत्नाकर जी ने लिखा है:—जितना श्रम कवियों ने रीतिग्रंथों के निर्माण में उठाया, यदि उसका शतांश भी भाषा के सिद्धांत बनाने में उठाते तो बहुत शीघ्र ही यह सर्वथा परिमार्जित तथा सुश्रृंखल हो जाती।

रत्नाकर जी ने केशव की भाषा को परिमार्जित माना यद्यपि उसमें भी उच्छृङ्खलता थी। केशव के समकालीन कवियों को भाषा की व्यवस्था अखरी, किंतु वे श्रेष्ठ कवियों के प्रयुक्त प्रमाण के कारण यथेष्ट शुद्ध एवं वैज्ञानिक प्रयोग करने में असमर्थ रहे। विहारी की भाषा को रत्नाकर जी ने परिमार्जित एवं आदर्श माना। उनके अनुसार विहारी ने हृदय में साहित्यिक ब्रज-भाषा के सुश्रृङ्खल रूप का ढाँचा स्थिर कर श्रमपूर्वक उसी के अनुसार शब्दों के रूपों का प्रयोग किया, यद्यपि यह कार्य अत्यधिक श्रम, गवेषणात्मक तथा पाण्डित्य-पूर्ण था। बिहारी सतसई जैसे आदर्श ग्रंथ के रहते हुए भी व्याकरण के अभाव के कारण साहित्यिक व्रज-भाषा व्यवस्थित न हो सकी। बिहारी के पश्चात् आनन्दघन जी की कविताओं में शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग रत्नाकरजी मानते हैं। इन्होंने लिखा है:—

"हमारी समझ में विहारी तथा आनंद घन जी की कविता में शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा का एक सुन्दर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। यदि कोई व्याकरण-विशेषज्ञ इस विषय में उद्योग करें तो वे उक्त भाषा के नियमों को पूर्णतया उक्त ग्रंथों के द्वारा स्थापित कर सकते हैं। यदि किसी ऐसे ही रूप विशेष का नियम इन ग्रथों से निर्धारित न हो सकेगा तो उसके लिए अन्य श्रेष्ठ कवियों की रचना में देख-भाल करनी पड़ेगी।"

रत्नाकर जी स्वयं विहारी-शब्द-सागर की रचना कर रहे थे। शब्दों का विकास-क्रम देते हुए उनके अर्थ लिखने की योजना इसमें थी। इस लेख से भाषा-विज्ञान में उनके पांडित्य का दर्शन हमें होता है।

———

ऐतिहासिक लेख

महाराज शिवाजी का एक नया पत्र

ना० प्र० पत्रिका[1] में प्रकाशित इस लेख में सर्वप्रथम इसका प्राप्ति-स्थान बतलाया गया है। वास्तव में रत्नाकर जी बिहारी सतसई से सम्बन्धित सामग्री ढूँढ़ रहे थे। जयशाह का नाम सुनकर बिहारी के आश्रयदाता जयशाह के ध्यान से वे इस पत्र की ओर आकर्षित हुए थे। ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित होने के कारण इसे सुरक्षित रखने की इच्छा से इसे प्रकाशित किया गया। उन्होंने लिखा है :—

"इस विषय में हमारे कई मित्रों ने भी विशेषतः बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० ने आग्रह किया। अतः उक्त पत्र उसके नागरी प्रतिलेख तथा भाषा-अनुवाद सहित ना० प्र० पत्रिका द्वारा प्रकाशित किया जाता है।" प्राप्ति-स्थान के बाद उसकी प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता का विचार कर मूल फारसी लिपि तथा देवनागरी लिपि में अनुवाद दिया गया है।

यह सिक्खों के हर मन्दिर में नामक संगति के महन्त श्री सुमेरसिंहजी साहिबजादे के पास से गुरुमुखी अक्षरों में प्राप्त हुआ था। महाराज शिवाजी ने यह पत्र राजा जयसिंह के नाम लिखा था। जीर्ण होने के कारण इस पत्र के एक आध शब्द व अक्षर नष्ट हो गए थे, जिनकी पूर्ति रत्नाकर जी ने स्वयं शब्द जोड़कर कर दी है। रत्नाकर जी ने इस कार्य में काशी विश्वविद्यालय के तत्कालीन फारसी-प्राध्यापक श्रीयुत मिर्जा मुहम्मद हसन 'फायज' जी से पर्याप्त सहायता ली थी।

श्री फायज इसे प्रामाणिक किंतु देवी प्रसाद जी अप्रामाणिक मानते थे।

२. शृंग वेश का एक शिलालेख[2]

रत्नाकर जी ने इसे हरिद्वार से भेजा था, अतः उन्होंने विशेष विवेचना पुनः करने के लिए कहा था। इस लेख के साथ इस लेख की प्रतिलिपि एवं सुधारी

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, सं० १६७६, पृष्ट १४१।

२. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ५ पृष्ट ६६।

प्रतिलिपि भी है। काले श्वेत में एक थपुवा छाप तथा दूसरा चित्र है। रत्नाकर जी जैसा पढ़ पाये थे वैसा तर्क सहित उन्होंने लिख दिया है। नागरी-रूपांतर भी कर दिया है।

३. शुंगवंश का एक नया शिला-लेख[१]

यह पिछले लेख का पूरक है। उन्होंने लिखा है :—

"इस पत्रिका के गतांक में हमने शुंगवंश का एक शिलालेख प्रकाशित किया था और अपनी समझ के अनुसार उसका नागरी अक्षरांतर तथा हिंदी अनुवाद भी दिया था। जिस मंदिर का यह लेख है, उसके विवरण शुंगवंश की ऐतिहासिक तथा पौराणिक टिप्पणियों के विषय में हमने फिर लिखने का विचार प्रकट किया था। अवकाशाभाव से हम अपना उक्त संकल्प तो पूरा नहीं कर सकते, पर उस लेख के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।"

उक्त कथन से इस लेख का आधार स्पष्ट हो जाता है। इस लेख में शिला-लेख के प्राप्ति-स्थान का विवरण है। चौखट के नीचे दो शब्द और प्राप्त हुए 'धर्म घनमित्रेण' व 'घनदेवेन' शुङ्गवंश में मित्र शब्द के प्रचलन के फलस्वरूप रत्नाकर जी ने घनमित्रेण को ही उचित माना।

४. एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति[२]

काशी के संकटमोचन में एक पाषाणाश्व की प्राप्ति हुई थी। उसकी पीठ पर अंकित अक्षरों को प्रयास करके वे 'श्री चन्द्रगुप्त' पढ़ पाये थे तथा उनका अनुमान था कि चंद्रगुप्त द्वितीय के अश्वमेध का स्मारक अश्व होगा। इस लेख का भाषांतर 'इंडिया हिस्टोरिकल क्वार्टरली' में भी प्रकाशित हुआ था।

५. एक प्राचीन मूर्ति[३]

अयोध्या के निकट १ फुट ४ इञ्च ऊँची तथा १० इञ्च चौड़ी श्री कृष्णचन्द्र की वंशी सहित एक मूर्ति की प्राप्ति हुई थी। रत्नाकर जी को विश्वास था कि उसी स्थान पर यदि खुदाई हो तो राधा की मूर्ति भी प्राप्ति होगी तथा उन्होंने अपने व्यय से खुदाई करवाने की इच्छा प्रकट की थी।

---

१. वही, सम्वत् १९८१ पृ० २०९

२. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ८, सम्वत् १९८४, पृ० २२९।

३. वही पृ० २९७।

६. समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व[१]

यह १५ पृष्ठों का सचित्र लेख है। लखनऊ के म्यूजियम में सुरक्षित इस पाषाणाश्व की पीठ पर अंकित लेख को फ्यूहर एवं स्मिथ जैसे विद्वानों ने पढ़ने का प्रयास किया था और ग्रीवा पर अंकित लेख को पढ़ा भी था। 'गुत्तस देव धम्म' तथा 'देव समुद्द गुत्तस देवधम्म' मानकर उसका अर्थ 'समुद्र का धर्मार्थ दान' लगाया था किंतु उसके पीठ पर अङ्कित लेख को उन लोगों ने केवल चित्रकारी मात्र समझा, अतः उसे योंही छोड़ दिया था, किंतु रत्नाकर जी की तीव्र दृष्टि से वह लेख छिप न सका। अपने अथक परिश्रम के फलस्वरूप वे पीठ पर अङ्कित लेख को पढ़ने में भी समर्थ हुए। उन्होंने उसे "ओं श्री चंद्रगुप्त पितुः" पढ़ा था। इस प्रकार ग्रीवा एवं पीठ पर के लेख क्रमशः प्राकृत एवं संस्कृत में हो जाते हैं। इस पर कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। रत्नाकर जी ने इस विषय पर कई सुझाव दिए हैं, जो मान्य एवं उचित प्रतीत होते हैं। रत्नाकर जी की महत्ता इस लेख को पढ़ने में समर्थ होने में है। उनके मत का अनुसरण कोई करे अथवा न करे।

रत्नाकर जी के इन ऐतिहासिक लेखों से उनकी इतिहास के प्रति अभिरुचि तथा उनकी सूक्ष्म विवेचन शक्ति का आभास मिलता है। उस समय अंग्रेजी का बोलबाला था। यदि ये ही लेख अंग्रेजी में लिखे गए होते तो इनकी महत्ता विशेष रूप से होती, किंतु रत्नाकर जी ने ना०-प्र०-पत्रिका में ही इन्हें प्रकाशित कर अपने हिंदी-प्रेम का परिचय दिया है। शुंग इतिहास पर इनके लेखों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्यिक लेख

१. साहित्य रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड)

सन् १८८८ ई० में 'साहित्य सुधानिधि' पत्र में यह सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ। इसके बाद ना० प्र० सभा ने इसे पुस्तकाकार मुद्रित किया था। इसी लेख में सर्वप्रथम रत्नाकर जी ने 'काव्य-रत्नाकर' (जो प्राचीन काव्य है) द्वारा निर्धारित कारणों पर विचार किया है। साथ ही सूक्ष्म विवेचन के उपरांत अपना मत दिया है। समीक्षा-सिद्धांतों का हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम इसी काव्य के समीक्षा-सिद्धांतों पर विवेचन हुआ है। रीतिकालीन रीतिग्रंथ संस्कृत के रूपांतर एवं छाया मात्र ही थे, किन्तु रत्नाकर जी ने हिन्दी के

---

१ वही भाग ६, सम्वत् १६८५, पृ० १।

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का ही खण्डन-मण्डन किया है। आवश्यकता होने पर संस्कृताचार्यों का भी उल्लेख किया है। सूरति मिश्र के 'साहित्य परिचय' में दिये गए चार लक्षणों को आधार रूप में लेकर पुनः मम्मटाचार्य एवं कुलपति मिश्र की परिभाषाओं पर विचार किया गया है। चतुर्थ लक्षण के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ तथा साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ की परिभाषाएँ दी गई हैं। रस-विषयक विवेचना तथा रहस्य के लक्षणों पर भी विचार प्रकट किये गए हैं। अन्त में ध्वनिकार तथा साहित्य-दर्पण की अन्य उक्तियों पर विचार किया गया है। रत्नाकर जी ने अपना मत यों दिया है :—

होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय।
रत्नाकर लक्षण करत यह बहु ग्रन्थन जोय॥

सन् १९०० ई० में दिसम्बर मास की सरस्वती में रावराजा डा० श्यामविहारी जी ने आलोचना लिखी थी, जिसके प्रत्युत्तर में बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने दूसरे मास की सरस्वती में लिखा था :—

"बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने साहित्य-रत्नाकर (काव्य निरूपण खण्ड) में काव्य के यथार्थ लक्षणों को पूर्ण रीति से निर्धारित कर दिया है। तो फिर मिश्र जी का यह कहना, 'काव्य का कोई लक्षण तक यद्यपि पूर्ण रूप से संस्थापित नहीं है' अनुचित है"।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इसका उल्लेख किया है। यद्यपि जितना इसका महत्व है, उतना श्रेय इसे प्राप्त न हो सका तथापि हिन्दी साहित्य के लिए यही एक मात्र ग्रन्थ है। इसमें प्रतिपादित विषय का, हिन्दी साहित्य का यह सर्व प्रथम ग्रंथ माना जा सकता है, किन्तु फिर भी इसे पूर्ण महत्व नहीं प्राप्त है। यद्यपि श्री भारतेन्दु जी ने नाट्यशास्त्र पर 'नाटक' लिखा किंतु उसमें खण्डन-मण्डन द्वारा सिद्धांत निर्धारित करने की शैली नहीं अपनाई गई थी। किंतु खेद है कि आज यह उपेक्षित ग्रंथों में है। आधुनिक युग में इस प्रकार के कई रूप प्रकाश में आ रहे हैं। रामदहिन मिश्र, गुलाब राय, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंडित बलदेवप्रसाद उपाध्याय आदि के काव्यादर्श, काव्य के रूप, सिद्धांत और अध्ययन, काव्य कल्पद्रुम, भारतीय साहित्य शास्त्र आदि इसी परंपरा के ग्रंथ हैं।

घनाक्षरी नियम रत्नाकर

इस लेख की रचना श्री १०८ बालकृष्ण जी महाराज कांकरौली पुराधिपति संस्थापित काशी-कवि-समाज तथा सर्वसाधारण के हितार्थ हुई थी तथा उक्त महाराज के आज्ञानुसार ही इसे १८९७ ई० में श्री रामकृष्ण वर्मा ने भारत-जीवन प्रेस से मुद्रित किया था।

उत्तमोत्तम कवियों के छन्द भी दोषयुक्त थे। यद्यपि कभी-कभी अक्षर-संख्या उचित होती थी फिर भी कहीं-कहीं छंदोभङ्ग के उदाहरण होते थे। रत्नाकर जी ने लिखा है :—

"एक दिन ईश्वर की कृपा से एक बात ऐसी ध्यान में आई जिससे भली-भांति निश्चय हो गया कि यदि इस रीति पर चला जाय तो निस्संदेह नियम स्थिर कर सकते हैं। फिर तो मैंने यथाशक्ति काम करना आरंभ कर दिया और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा से कुछ नियम ऐसे कर लिए जिससे संतोष प्राप्त हुआ।"

काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में सामान्यत: २६ वर्णों से अधिक के छंद को दंडक कहा गया है। यद्यपि घनाक्षरी के लिए भी दंडक संज्ञा को प्रयोग में लाया गया है, किंतु उक्त कारण से इसे घनाक्षरी व कवित्त कहना ही उचित होगा। क्षेम के 'काव्य रसायन' एवं जसवंत कृत 'भाषा भूषण' तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर ३० से ३३ वर्णवाले छंदों का ही विवेचन किया गया है। दंडी ने चार प्रकार के अनियमित दंडक माने हैं, किंतु दो ही प्रचलीत थे। ३१ वर्णमाला मनहरण और ३२ वर्णमाला 'घनाक्षरी' कहा गया है। लघु-गुरु का कोई नियम न था, अत: देव ने इसे अनियत दंडक कहा है। इसका अंत लघु और ३२ का गुरु होना चाहिए। किंतु यह नियम बना देना उचित नहीं है ३१ के आदि में एक कम करने से ३० तथा ३२ में एक जोड़ने से ३३ होते हैं किंतु ३३ में अंतिम ३ या अधिक वर्ण लघु हों। यदि तीनों मिलकर शब्द बने तो अत्युत्तम होगा।

मनहरण १६-१५, रूप १६-१६, १६-१४, और देव १६-१७ होता है। घनाक्षरी का सामान्य नियम यह है—

आठ आठ पै तीन जति, बहुरि सात पै एक।
अन्त माहि नियमित गुरु कहि घनाक्षरी टेक ॥

यद्यपि यह उचित नहीं था। रत्नाकर जी का मत था, इस नियम के भंग होने से योग्य व्यक्तियों के कानों में भी, जो कि शब्द के निमित्त श्रेष्ठतम तुल्य

माने जाते हैं, कोई खटक नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह बात भी देखी गई कि उन नियमों के अनुसार होने पर भी कवित्त अशुद्ध रह सकता है। इस भूमिका भाग में समस्या उठाई गई है। लिखा है—

एकतिस बत्तिस वर्ण को है घनाक्षरी छन्द।
प्रथम कहावत मनहरण द्वितिय रूप सुखकन्द॥
सोलह पर जति कीजिए, बहुधा करिके प्रेम।
अन्त माहि मनहरण के गुरु राखो करि नेम॥

तत्पश्चात् घनाक्षरी में शब्द बैठाने के पांच नियम निर्धारण तथा उसकी विवेचना की गई है। १२ से अधिक गुरु व २४ से अधिक लघु न मानने चाहिएँ। १० गुरु व २३ लघु तक के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। रत्नाकर जी ने छंद की उपयुक्तता कवि की निपुणता पर छोड़ दी है। कठोर नियम निर्धारित करना उचित नहीं समझा। उर्दू-फारसी के विद्वान् होने के कारण इन्होंने लय पर विशेष ध्यान दिया। उर्दू में लय का आभास कराया जाता है। पुस्तक की समाप्ति-तिथि भाद्रपद शुक्ल पंचमी दी गई है। छंद शास्त्र पर गद्य के माध्यम से किया गया यह प्रथम विवेचनात्मक लेख है। परन्तु खेद है कि यह लुप्त होता जा रहा है। केवल एक प्रति रामकृष्ण जी के पास है जिसे देखने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है।

वर्ण सवैया छंद

यह लेख मार्च १९०२ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। इसमें उदाहरण सहित रत्नाकर जी ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सवैया छंदों में वर्णों के लघुरूप के स्थान पर गुरु रूप आने की योग्यता केवल शब्दों के क्रम-विशेष और वर्ण संख्या पर निर्भर है, सर्वथा स्थान व विशेष स्थान-संख्या से इसका सम्बंध नहीं है। कहीं लघु के स्थान पर गुरु वर्ण के आने से गति बिगड़ जाती है और कहीं नहीं बिगड़ती है। इसके बाद वर्ण सवैया छंद के १२ भेदों के नाम लक्षण एवं उदाहरण सहित दिये गए हैं। भुजंग छंद, लक्ष्मी-छंद तथा आभार छंदों को दासजी ने सवैया के ही अन्तर्गत माना है, इनका उल्लेख रत्नाकर जी ने किया है।

आगे लेखक ने लिखा है, और जो बातें कही गई हैं उनसे सिद्ध होता है कि सवैया छंदों में नियत लघु वर्णों के गुरु रूप उनके प्रत्येक स्थान का नियमित लघु-गुरु के रूप में आकर लघु पढ़ा जा सकता है और न यही नियम है कि प्रतिपाद्य में लघु से अधिक गुरु सब में नहीं पढ़े जा सकते।

केवल कई एक विशेष दशाओं ही में लघु वर्ण गुरु रूप से आकर लघु पढ़े जाने में अड़चन करते हैं। आगे वे ही दशाएँ भी हुई हैं—

१. यदि किसी नियत गुरु अवस्था का वर्ण और उसके पूर्व का वर्ण दोनों एक ही शब्द में पड़ें और उस नियत गुरु स्थान के पूर्व का वह वर्ण गुरु रूप से आवे तो छंद की गति बिगड़ जायगी यथा—

'मेघ आकाश में छाई रहे हैं जिन्हें लखि मोर हैं शोर मचावत।

सीमीचीन रूप,

मेघ हैं छाए सुअंबर मांहि जिन्हें लखि मोर हैं शोर मचावत।

२. यदि दो लघु एकत्र आते हों और दोनों एक ही शब्द के वर्ण हों तथा पहला लघु गुरु रूप से आवे तो गति को बिगाड़ देगा। उदाहरण—

हैं कारे बादर अम्बर छाये जिन्हें लखि मोर हैं शोर मचावत।

समीचीन रूप,

आवत बादर अम्बर छाए, जिन्हें लखि मोर हैं शोर मचावत।

३. जो लघु सवैया छंद के अंत में होते हैं वे गुरु रूप से न आने चाहिएँ। उदाहरणार्थ—

उठी अकुलाय सुखी जब नेत्र कला परवीन लला ब्रजराज।

छंदों की सोदाहरण विवेचना सर्वप्रथम रत्नाकर द्वारा ही हमें प्राप्त होती हैं। उनके ये लेख मौलिक हैं तथा इनमें स्वच्छंद विवेचना हुई है। रत्नाकर जी ने केवल लक्षण एवं नियम-निर्धारण मात्र ही आवश्यक न समझा वरन् छंदों के ताल व लय पर भी विशेष ध्यान दिया। हिन्दी साहित्य में गद्य-काव्य विवेचना में रत्नाकर जी के ये लेख पथ-प्रदर्शक हुए हैं। अनूप शर्मा जी के कथनानुसार कानपुर में होनेवाले अखिल भारतीय कवि सम्मेलन में भानुजी भी आये थे और उन्होंने यह स्वीकार किया था कि उनका 'छंद प्रभाकर' रत्नाकर जी की रचनाओं से ही प्रेरित है। रीतिकालीन आचार्यों का विवेचन शुष्क नियम-निर्धारण मात्र रहता था, किंतु रत्नाकर जी ने नियम निर्धारण में संगीत, लय आदि का पर्याप्त ध्यान रखा और यही उनकी विशेषता है।

४. तिथियों तथा वारों को मिलाने की सुगम रीति

रत्नाकर जी ने लिखा है कि प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, ब्रजभाषा तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं के ग्रंथों में उनके निर्माण की तिथि विक्रमीय अथवा शक संवत मास, पक्ष, तिथि तथा वार लिखे मिलते हैं। इन तिथियों के विषय में कभी-कभी सन्देह होने लगता है कि वे ठीक हैं, अथवा प्रक्षिप्त। तदुपरान्त जांचने की विधि बताई गई है।

दो विधियों से तिथि व वार मालूम किया जा सकता है। अनुलोम विधि तथा प्रतिलोम विधि। अनुलोम में इष्ट तिथि से पूर्व की किसी तिथि का वार ज्ञात करके गणित द्वारा इष्ट तिथि का वार मिलाया जाता है। प्रतिलोम में जिस दिन गणना करने बैठें उसी दिन से इष्ट तिथि तथा वार की गणना की जाती है। तत्पश्चात् उन्होंने अपने "विहारी का आत्म परिचय" शीर्षक लेख में विहारी के जन्मकाल के विषय में दिए गए दोहों को लेकर अपनी दोनों विधियों का स्पष्टीकरण किया है। उनका यह लेख प्राचीन तिथियों का ज्ञान कराने में निश्चय ही सहायक सिद्ध हो सकता है। दोनों ही विधियों को देखने से रत्नाकर जी के प्रकांड पांडित्य का दिग्दर्शन होता है।

५. श्री देवदत्त कवि का शिवाष्टक

लेख की प्रेरणा राधाकृष्ण दास के पास सुरक्षित देव कविकृत 'शिवाष्टक' की एक हस्तलिखित प्रति थी। रत्नाकर जी ने लिखा है—

"कुछ दिन हुए हमारे एक मित्र तथा सम्बंधी हिंदी-संसार से परिचित श्रीयुत राधाकृष्ण दास जी महोदय के पास देव कवि कृत शिवाष्टक की एक हस्तलिखित प्रति आई थी।"

इसके बाद रत्नाकर जी ने कृति की प्राप्ति के विषय में बताया है। देव कवि के वंशज पं० मातादीन जी दुबे जिला मैनपुरी के कुसुमरा स्थान में रहते थे। इन्हीं से यह हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। देव कवि के वंश के विषय में लिखा है, देव जी दूबे इटावे के बिउसरिहा कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता बिहारी लाल जी इटावे के कुसुमरा, जिला मैनपुरी में जाकर रहने लगे थे। देव जी का जन्म सन् १६७३ ई० में कुसुमरा में ही हुआ था तथा मृत्यु सन् १७४५ ई० में होना अनुमान-सिद्ध है। उनके वंश के विषय में मातादीन जी ने लिखा है:—

छप्पय

"दुबे बिहारी लाल भए, निज गुण नंद दीपक,
तिनके भे कविदेव कबित में अनुपम रोचक।
पुरुषोत्तम के छत्रपति बाबा कृत लेखक,
भये खुसालीचन्द पुत्र बुधसेनहु जी तक॥

दोहा

तिनके राजाराम सुत, पितु हमरे अतिभान,
ता सुत मातादीन, यह दास रावरो जान।

हस्ताक्षर, देवकवि वंशात्मज मातादीन द्विवेदी, स्थान कुसुमरा, जिला मैनपुरी, ता० २४ जून सन् १६२५ ई० ।" देव कवि की सातवीं पीढ़ी में मातादीन जी हुए ।

रत्नाकर जी ने व्रजभाषा के कवियों में देव का स्थान उच्च बताया है तथा उनकी कविता को बड़ी अनूठी, उच्च कोटि की तथा वाग्वैभव, शब्द-समृद्धि, रचना-चातुर्य सभी को सराहनीय माना है। देव कवि ने १६ से ७२ वर्ष की अवस्था तक हिन्दी साहित्य की सेवा की। शिवाष्टक उनके ३५ वर्ष के वय से पूर्व की कृति है। उन्होंने लिखा है : "जिस अवस्था में मनुष्य को स्वभावतः ही शब्दालङ्कारों पर विशेष रुचि रहती है।"

तत्पश्चात् अष्टक के एक-एक छन्द को लेकर उसका अर्थ समझाया है। कृति समाप्ति तिथि भी दी गई है। पुनः रत्नाकर जी ने नम्र निवेदन किया है, "यदि किसी विज्ञ पाठक महाशय को और कोई शब्द-विच्छेद अथवा अर्थ स्फुटित हो तो वे उसी को यथार्थ मानें और हमको क्षमा करें।

कविवर विहारी

रत्नाकर जी ने विहारी सम्बन्धी अनेक लेख लिखे थे, उन्हें एक समालोचना का रूप देने की उनकी इच्छा थी। रामकृष्ण जी ने विहारी-सम्बन्धी सभी लेखों को एकत्र कर उन्हें निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा—१. विषय-प्रवेश (इसमें काव्य सम्बन्धी १२ लेख हैं,) २. भाषा का संक्षिप्त इतिहास, (इसमें प्राकृत से लेकर व्रज तक के भाषा के विकास सम्बन्धी ११ लेख हैं) ३. साहित्यिक व्रजभाषा और विहारी की भाषा, (२२ व्याकरण प्रधान लेख हैं,) ४. विहारी का काव्यत्व, (रीतिकालीन सम्प्रदायों सम्बन्धी १२ लेख हैं,) ५. सतसई का क्रम, (विभिन्न कवियों एवं प्रतियों के क्रम सम्बन्धी १५ लेख) ६. विहारी सतसई पर की गई ५४ टीकाओं का उल्लेख तथा ७. इसमें विहारी की जीवनी सम्बन्धी ३ लेख हैं।

इनमें से विहारी से सम्बन्धित कुछ लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित हो चुके थे। कहीं-कहीं कोई-कोई वाक्य श्री रामकृष्ण जी को अपनी तरफ से भी जोड़ने पड़े। रत्नाकर जी के इन लेखों से उनके प्रकांड पांडित्य एवं गहन अध्ययन का पता चलता है।

भाषण

प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन के प्रधान सभापति-पद से दिया गया भाषण

२६ दिसम्बर १९२५ को यह सम्मेलन कानपुर में हुआ था। रत्नाकर जी ने अपने भाषण में सर्वप्रथम कवि-सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डाला है। उनका विचार था कि कविता की उन्नति का एक सुश्रृङ्खल रूप होना चाहिए तथा उच्छृंखलता व मनोरंजन को दूर रखना चाहिए। उन्होंने दो प्राचीन कवि-सम्मेलनों का उल्लेख किया है। एक कवि-सम्मेलन अकबर के समय में हुआ था तथा दूसरे का उल्लेख सूरति मिश्र के सरस-रस नामक काव्य-ग्रंथ के संदर्भ में है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कविता में अव्यवस्था और उच्छृङ्खलता आ गई थी, उसे दूर करने के लिए ही एक कवि-सम्मेलन हुआ था, जिसके फलस्वरूप सूरति मिश्र ने अन्य विद्वानों की सहायता से प्राचीन एवं नवीन भेदों को दूर करने के लिए सरस-रस का निर्माण किया था। उक्त दोनों ऐतिहासिक कवि-सम्मेलनों का उद्देश्य काव्य में सौष्ठव लाने का था। रत्नाकर जी ने इस कवि-सम्मेलन का उद्देश्य भी यही बतलाया।

उन्होंने कविता तथा उसके उद्देश्य की परिभाषा भी बताई। साहित्यिक व्रजभाषा तथा खड़ी बोली का क्षेत्र, विकास आदि पर प्रकाश डाला तथा व्रजभाषा-कवियों को अपने काव्य में कुछ परिवर्तन करने की सलाह भी दी। यही नहीं, खड़ी बोली के कवियों को भी उन्होंने सलाह दी। उन्होंने उनसे व्रजभाषा के काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों से काव्य रीति एवं रचना-प्रणाली सीखने के लिए कहा। तत्पश्चात् सोदाहरण उर्दू छन्दों के प्रयुक्त करने में गलती तथा उसके दूर करने की युक्ति बताई। पुनः उन्होंने कविता की उन्नति तथा इसे सुश्रृङ्खल रूप में रखने के लिए सभा स्थापित करने की इच्छा एवं आवश्यकता प्रकट की। वे ऐसी सभा स्थापित करना चाहते थे जिसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवि सम्मिलित हों तथा ऐसे नियमों एवं सिद्धांतों का प्रतिपादन हो जो सभी भाषाओं के काव्यों में समान रूप से प्रयुक्त किया जा सके।

बीसवें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया भाषण

रत्नाकर जी का दिया गया यह भाषण ३७ पृष्ठों में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। २६ मई सन् १९३० को दिन में साढ़े तीन बजे कलकत्ते के सीनेट हाल में यह सम्मेलन आरम्भ हुआ था।

पहले एक श्लोक तथा कवित्त के उपरांत उन्होंने अपने सभापति चुने जाने के लिए अत्यधिक कुशलता से धन्यवाद दिया। तत्पश्चात् चार साहित्य-सेवियों के देहावसान पर हार्दिक शोक तथा समवेदना प्रकट की। वे थे श्री लाला भगवानदीन जी, श्री गणेश शङ्कर जी विद्यार्थी, श्री हरिमङ्गल जी मिश्र तथा श्रीकृष्ण बलदेव। अपने भाषण के आरम्भ में उन्होंने हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति तथा विकास के विषय में बताया है। उन्होंने कहा, मेरी समझ में आधुनिक हिंदी अथवा खड़ी बोली की उत्पत्ति व्रजभाषा तथा पंजाबी के मेल से हुई है। इसे उन्होंने उदाहरण के सहित स्पष्ट किया है। पुनः अकारांत रूपों का हिंदी में प्रयोग आरंभ होना कब से प्रारम्भ हुआ, इसको बताया है। उन्होंने कहा है कि अपभ्रंश के बाद दो भाषाओं का रूप आया। प्रथम शौरसेनी तथा दूसरी खड़ी बोली। १३ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् मुसलमानों के स्थित हो जाने के पश्चात् खड़ी बोली की अधिक उन्नति तथा प्रचार हुआ, कारण, मुसलमानों तथा भारतवासियों को परस्पर विचार-विनिमय के लिए एक भाषा की आवश्यकता हुई जिसके फलस्वरूप खड़ी बोली हमारे समक्ष उपस्थित हुई। पुनः खड़ी बोली का विकास दिखाया गया है। १४ वीं शताब्दी के मध्य से अमीर खुसरो की पहेलियां, सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में कबीर एवं अन्य संत कवियों द्वारा इसका प्रचार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली के दो रूप हिंदी तथा उर्दू हो गए। मुसलमानों द्वारा उर्दू की विशेष उन्नति हुई। घनानन्द तथा सीतल ने खड़ी बोली में भी अच्छी कविताएँ लिखी हैं, किंतु विशेष रचना नहीं हुई।

बीसवीं शताब्दी में भारतेंदु को हिंदी गद्य का मुख्य प्रवर्तक बताया। नागरी-प्रचारिणी-सभा तथा 'सरस्वती' पत्रिका को आश्रय देने तथा हिंदी भाषा का सुधार करने में महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की प्रशंसा की। मई सन् १९१० ई० को हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना, हिंदी की उन्नति के सदुद्देश्य से होना बताया। प्रथम अधिवेशन के सभापति महामना मालवीय

जो हुए, जो आश्विन, नवरात्र में सोमवार, सप्तमी, १० अक्टूबर सन् १९१० ई० को हुआ था।

तत्पश्चात् हिंदी साहित्य सम्मेलन के गत बीस वर्षों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इंदौर के सम्मेलन में गांधी जी द्वारा अन्य प्रांतों में भाषा के प्रचार के लिए अनेक संस्थाएं स्थापित करने की योजना बनाई गई तथा गांधी जी ने प्रशंसा करते हुए बताया कि मद्रास में भी वे प्रचार कार्य कर रहे हैं। कई पाठशालाएं तथा शिक्षा-केंद्र स्थापित हुए। पंजाब-केसरी तथा प्राची-प्रकाश नामक साप्ताहिक पत्रिका का संदर्भ देते हुए हिंदी को एक दिन राष्ट्र-भाषा बन जाने की शुभ आशा प्रकट की, जो आज पूर्ण हो गई है। किंतु वे हिंदी की तब तक हुई उन्नति से ही संतुष्ट नहीं थे। साहित्य-सम्मेलन द्वारा और महत्वपूर्ण कार्यों के लिए आग्रह किया तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यों का विवरण देते हुए उसकी प्रशंसा की।

सम्मेलन के परीक्षा विभाग को विशेष महत्व प्रदान किया। ब्रिटिश भारत की म्यूनिसिपैलिटी तथा जिलाबोर्ड, स्त्री-समाज, मुसलमान विद्यार्थी तथा रियासतों द्वारा इन परीक्षाओं को महत्व देने की बात कही। संवत् १९८४ में १७७ परीक्षा-केंद्र थे। उन्होंने हिंदी-विद्यापीठ की विशेष उन्नति करने के लिए आग्रह किया। संस्था के सदस्यों तथा हितैषियों की संख्या पर उन्होंने 'करुणा' उत्पन्न होने की बात कही। भारत की ३२ करोड़ जनसंख्या होने पर तथा देश के कोने-कोने में संस्था होने पर भी उसके सदस्य कुल १९८ थे। अतः सहस्रों हितैषियों को संख्या बढ़ाने के लिए आग्रह किया। गत कुछ वर्षों के विकास पर संतोष प्रकट किया। तत्पश्चात् गद्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिकाओं के विकास को बताते हुए आदर्शवादी बनने तथा साहित्य में अश्लीलता न लाने के लिए कहा। समालोचना साहित्य के अभाव पर खेद प्रकट किया। किंतु भारतेंदु के काल से ही इसका अभाव मानकर इसके विकास पर भी दृष्टि डाली है। पत्र-पत्रिकाओं की तत्कालीन अवस्था को संतोषप्रद बताया। पत्र-पत्रिकाओं में खटकने वाली बात तथा उन्हें पाश्चात्य देशों के पत्र-पत्रिकाओं के समकक्ष न पाकर दुख प्रकट करने के उन्होंने दो कारण बताए हैं। पुनः उन्होंने कहा, आज-कल जितनी अंधाधुंधी पुस्तकों के प्रकाशन की ओर है उतनी न होनी चाहिए।............बुरा होने से कुछ न होना ही अच्छा है।

आगे उन्होंने कहा कि 'कविता एक ललित कला है। परंतु काव्य मनुष्य को अलौकिक आनंद-दायी हो तथा पढ़ने का ढंग अच्छा होना चाहिए। उन्होंने कहा, काव्य में माधुर्य अथवा ओज गुण वांछनीय हैं, उनमें भी

प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। कविता भावों को प्रदर्शित करने के अभिप्राय: से लिखी जाती है, न कि उसको शब्दाडम्बर के पटल में छिपाने के लिए, पर खेद का विषय है कि इस युग के अधिकतर नवीन कवि अपने गम्भीर भावों को सरलता से बोधगम्य न होने देने ही में अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं। इसे उन्होंने अनुचित बताया।

काव्य दो प्रकार का गद्यात्मक तथा पद्यात्मक होता है। प्रसाद गुण आवश्यक है। आगे उन्होंने छंद और भाषाओं की महत्ता बताई। अतुकांत से सतुकांत काव्य को सुन्दर बताया। व्रजभाषा के अधः पतन का कारण क्रांति-बताई, 'इस समय हमारे देश में सर्वतोमुखी क्रांति की उद्भावना हो रही है। इस-क्रांति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध, चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक हो, एक घोर आंदोलन खड़ा करना है।' हिंदी में भी यह क्रांति हो रही थी तथा क्रांति काल में भाषा में परिवर्तनशीलता मिलती है, ऐसा इतिहास में भी हम देखते हैं। व्रजभाषा से उन्हें प्रेम था, उसके अधः-पतन पर खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, 'जब खड़ी बोली के पक्षपाती कवियों को अपने प्राचीन साहित्य अर्थात् व्रजभाषा की उपेक्षा करते, उसे दीन-हीन तथा सर्वथा घृणित बताते हुए देखता हूँ तो मुझे आंतरिक व्यथा होती है।'

महात्मा सूरदास तथा तुलसी की महत्ता पर ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने बताया कि अन्य देशों में भी प्राचीन साहित्य उसके अर्वाचीन साहित्य से अधिक महत्त्वशाली हैं। वे व्रजभाषा के अनन्य पक्षपाती तथा समर्थक न थे, किंतु अपने को खड़ी बोली वालों में मानने में उन्हें संकोच था। व्रजभाषा पर लांछन लगाने वालों को उन्होंने व्रजभाषा के साहित्य से अपरिचित बताया। सम्मेलन का कर्तव्य उन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अन्वेषण तथा संग्रह बताया। सन् २६ के सम्मेलन में व्रजभाषा के एक उत्तम कोष के प्रकाशन का संकल्प किया गया था, किंतु उद्योग नहीं हुआ था। इसे तथा व्रज का एक प्रामाणिक व्याकरण बनवाने की व्यवस्था के लिए कहा।

अन्त में नागरी-लिपि को राष्ट्रीय-लिपि होने के योग्य बताया। संस्था में उत्साह का अभाव और शक्ति का न्यूनता बताई तथा हिंदी-प्रेमियों से आवश्यक सुधार करने की प्रार्थना की। समाप्ति पर परम करुणावरुणालय जगदीश्वर से अपनी और उपस्थित सज्जनों तथा सर्व-हिंदी-हितैषियों की ओर से उन्होंने प्रार्थना करते हुए भाषण समाप्त किया।

चतुर्थ प्राच्य सम्मेलन

यह ६ नवम्बर १९२६ ई० को इलाहाबाद में सम्पन्न हुआ। रत्नाकर जी इसके हिंदी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। सम्मेलन में उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिया तथा ९ पृष्ठों में यह प्रकाशित हुआ।

संपादित ग्रन्थ

१ सुधासागर, प्रथम भाग

रत्नाकर जी ने सन् १८८७ ई० में इसे श्रीयुत् परमोदार नामाधीश श्री १०८ हीरासिंह जू देव-प्रीत्यर्थ सम्पादित कर काशिका प्रेस से प्रकाशित करवाया। इस ग्रंथ में राधा को मानवीय रूप प्रदान कर उनके नखशिख का वर्णन किया गया है।

२ कविकुल कंठाभरण

यह अलङ्कार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी रचना दूलह कवि ने, रत्नाकर जी के अनुसार, सन् १८०४ के लगभग संस्कृत ग्रंथ चंद्रालोक तथा कुवलयानंद को आधार मानकर १२० अलंकारों को संक्षेप में लक्षण लक्ष्य रूप में प्रदर्शित करने के लिए की थी। अलंकार ग्रंथों में इसका विशेष महत्व है। रत्नाकर जी ने सन् १८८९ ईन् में इसे सम्पादित कर भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

३ दीपप्रकाश

यह ब्रह्मदत्त कवि की रचना है, जो एक लक्षण ग्रंथ है। नायिका भेद, नवरस, अलङ्कार तथा गुणदोषों का वर्णन ३९ पृष्ठों में किया है। रत्नाकर जी ने इसका सम्पादन काशीनरेश के आज्ञानुसार सन् १८८९ ई० में किया। शिष्टता के नाते रत्नाकर जी ने भूमिका में काशीनरेश की प्रशंसा की है और 'भाषाभूषण' की न्यूनता का इस ग्रंथ को पूरक कहा गया है।

४ सुन्दर शृंगार

यह सुन्दरकृत एक शृङ्गारिक ग्रंथ है। इसमें नायिका भेद, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव इत्यादि की विवेचना तथा संयोग-वियोग शृङ्गार का चित्रण है। इसे रत्नाकर जी ने श्रीरामकृष्ण वर्मा के साथ मिलकर सम्पादित किया तथा भारत जीवन प्रेस से ही प्रकाशित करवाया।

५ नृपशंभु कृत नखशिख

इसका सम्पादन रत्नाकर जी ने सन् १८९३ ई० में किया था, मुजफ्फरपुर के नारायण प्रेस से यह ग्रंथ मुद्रित हुआ। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है यह एक नखशिख ग्रंथ है। ३७ पृष्ठों में इसका विस्तार है। भूमिका में रत्नाकर जी ने इसके विषय में लिखा है, 'इनकी कविता अपने ढङ्ग की है। बाहरी बातों का वर्णन यह विशेष करते हैं पर हृदय का चित्र यह भलीभांति नहीं दर्शाते। इनकी उपमा में स्थूल और प्रत्यक्ष वस्तु विशेष आती है।'

६ हम्मीर हठ

यह चंद्रशेखर वाजपेयी की वीररस-सम्बंधी एक प्रसिद्ध रचना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी-साहित्य का एक रत्न माना है। सन् १८९३ ई० में इसका प्रकाशन साहित्य सुधानिधि प्रेस से हुआ था। पुनः यह नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें कवि की जीवनी तथा भूमिका भी है। भूमिका में रत्नाकर जी ने लिखा है कि इनके पुत्र श्री गौरीशंकर जी तब पटियाला में विद्यमान थे।

७ रसिक विनोद

इसकी रचना भी पं० चन्द्रशेखर वाजपेयी जी ने महराज श्रीनरेंद्रसिंह जी के लिए की थी। सन् १८९४ ई० में रत्नाकर जी ने इसे सम्पादित कर भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

८ समस्यापूर्ति, भाग १

काशी कवि-समाज के विगत १२ अधिवेशनों में जो समस्यापूर्तियाँ हुई थीं, उनको संगृहीत कर रत्नाकर जी ने गोपालमंदिर के महंत श्री १०८ महागोस्वामी जीवनलाल जी महाराज के आज्ञानुसार सन् १८९४ ई० में भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित करवाई।

९ वासोख़्ते क़लक़

इसके रचयिता लखनऊ के प्रसिद्ध उर्दू शायर 'क़लक़' हैं। इस पुस्तक के शीर्षक का अर्थ है 'आशिक माशूक के चोंचले।' रत्नाकर जी ने सन् १८९५ ई० में इसका सम्पादन कर देवनागरी लिपि में हरिप्रकाश यंत्रालय से मुद्रित करवाया।

१० हित तरंगिनी

कृपाराम कृत यह एक शृङ्गार रस का ग्रंथ है। इसकी रचना सं० १५९८ वि० में हुई थी। रत्नाकर जी इसे 'पद्मावत' से पूर्व की कृति मानते हैं। इसका सम्पादन कर सन् १८९५ ई० में भारत 'जीवन प्रेस से इसे प्रकाशित करवाया।

११ केशवदास-कृत नखशिख

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इस ग्रंथ का उल्लेख अपने इतिहास में नहीं किया है तथा यह ग्रंथ प्रकाश में भी नहीं है किंतु डा० हीरालाल दीक्षित ने इसका अस्तित्व स्वीकार किया है।[१] रत्नाकर जी ने भी इसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार कर इसे सन् १८९६ ई० में भारतजीवन प्रेस से सम्पादित कर प्रकाशित करवाया।

१२ सुजान सागर

यह घनानंद का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। सर्वप्रथम साहित्य सुधानिधि-पत्र में यह प्रकाशित हुआ था, किंतु सन् १८९७ ई० में इसे रत्नाकर जी ने पुस्तक का रूप प्रदान किया। रत्नाकर जी ने इसका सम्पादन अत्यधिक सुचारु ढङ्ग से किया है। इनके सम्पादन-कौशल का इस ग्रंथ में पूर्ण दिग्दर्शन होता है। इसकी एक अनुपम विशेषता यह है कि रत्नाकर जी ने संदिग्ध स्थानों को प्रश्नवाचक चिन्ह सहित उस स्थल को प्रश्नवाचक ही रखा। स्वयं अनिश्चित रूप से ठीक करना उन्होंने उचित नहीं समझा।

१३ विहारी-रत्नाकर

विहारी सतसई हिंदी साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं में है। रत्नाकर जी की सबसे अधिक प्रामाणिक टीका है। यों तो रत्नाकर जी ने ५३ अन्य टीकाओं का उल्लेख किया है।[२] किंतु इन टीकाओं में श्रेष्ठतम टीका 'विहारी रत्नाकर' सर्वमान्य है। रत्नाकर जी का 'विहारी' के विषय में गहन गम्भीर अध्ययन था। यह 'कविवर विहारी' ग्रन्थ को देखकर ही ज्ञात हो जाता है। रत्नाकर जी ने विहारी के अन्तस्तल में प्रवेश-पा लिया था। यही नहीं वे व्रजभाषा के भी पंडित एवं मर्मज्ञ थे। अर्थ लगाने में भी उनकी क्षमता-विशेष थी। उन्होंने

---

१. आचार्य केशवदास, लखनऊ विश्वविद्यालय, हिंदी-विभाग से प्रकाशित पी० एच० डी० की थीसिस।

२. कविवर विहारी का छठा प्रकाश।

जयपुर के राजकीय पुस्तकालय में बिहार-सतसई की हस्तलिखित प्रतियों को भली प्रकार देखा था। इस ग्रंथ के संपादन के समय उन्हें अवधेश्वरी से सहायता मिली थी। रत्नाकर जी ने इस सुअवसर का पूर्ण लाभ उठाया। यह उन्हीं के अथक परिश्रम तथा गहन अध्ययन का फल है कि आज हमें बिहारी-सतसई की एक प्रमाणिक प्रति प्राप्त हो सकी है।

ता० २५ मार्च सन् १९१९ ई० को पं० रामनाथ ज्योतिषी अवधेश्वरी के आज्ञानुसार जयपुर गए और वहाँ से बिहारी-संबंधी आवश्यक सामग्री का संकलन कर लाए। इसका संपादन काश्मीर प्रांत के निशात बाग में सन् १९२२ ई० में समाप्त हुआ। रत्नाकर जी ने बड़ी लगन तथा बड़े परिश्रम के साथ इसका संपादन किया। जहाँ तक सम्भव हो सका है, दोहों के क्रम को उन्होंने बिहारी के ही क्रमानुसार रखने का प्रयास किया है।

'बिहारी रत्नाकर' के विषय में प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइस-चांसलर महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, एम० ए०, डी० लिट्० ने बिहारी-रत्नाकर के प्रकाशन पर हर्ष प्रकट करते हुए लिखा है—"बाबू जगन्नाथदास मेरे बड़े प्राचीन मित्र हैं। इनसे मेरा पहिला परिचय सन् १८७६ ई० में हुआ था। जब यह क्वींस कालेज, बनारस में एट्रेंस में पढ़ते थे और मैं दरभंगे से एट्रेंस पास करके फर्स्ट ईयर क्लास में आया था। उन दिनों तो यह बात हम लोगों को नहीं ज्ञात थी, पर इतना अब भी स्मरण है कि उनके स्वरूप में अलौकिक प्रतिभा और बातों में अपूर्व सरलता थी।"[1] उन्होंने रत्नाकर जी के विषय में आगे कहा, "प्राचीन काल से कवित्वशक्ति और टीका-शक्ति परस्पर विरुद्ध समझी गई हैं। इस ग्रंथ को देखने से स्पष्ट है कि रत्नाकर जी केवल सरस कवि ही नहीं बड़े सरस टीकाकार भी हैं।"[2]

रीतिकाल के कुशल समीक्षक एवं मर्मज्ञ पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र ने बिहारी-रत्नाकर पर अपनी सम्मति प्रकट की है। वे लिखते हैं, अनेक टीकाएँ होने पर भी इसके (बिहारी सतसई के) भाव लोगों को स्पष्ट नहीं होते थे। यहाँ तक कि हिंदी के प्रकांड पंडित सर जार्ज ग्रियर्सन को भी इसके समझने में बड़ी उलझनें पड़ीं, फिर भी उनकी कितनी ही शंकाओं का सामाधान कहीं नहीं हुआ। पर हमें बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी बी० ए० का कृतज्ञ होना चाहिए, जिन्होंने अपने अत्यंत अध्यवसाय, प्रखर बुद्धि, प्रकांड पांडित्य और अपनी

---

१. माधुरी, १२ नवम्बर १९२६ ई० पृ० ५०७।

२. माधुरी, १२ नवम्बर १९२६ पृ० ५०८।

साहित्यिक लगन और प्रकृति के अनुसार इसकी 'बिहारी रत्नाकर' नाम की जो टीका प्रकाशित कराई है वह अवश्य ऐसी है, जिसे देखकर डा० ग्रियर्सन को भी विलायत से इस आशय का पत्र लिखना पड़ा, 'Your edition has dissipated all my doubts.' इसका कारण यही है कि उन्होंने बिहारी की सभी उपलब्ध प्रतियों से पाठ का संशोधन किया, क्रम का संगठन किया और भावों का पता लगाया, फिर अर्थ में क्या अड़चन रही वह अपने आप ही स्पष्ट हो गया। पर यह उनके दस वर्ष के अगाध परिश्रम का फल था।...... ....रत्नाकर जी के संपादन का ढंग देखकर भले हमारे हिन्दी के मनचले साहित्य-सेवी उसे परिश्रम का अपव्यय समझें पर उसकी उपयोगिता और उसका महत्व उन्हें २ जनवरी के लीडर में प्रकाशित कुछ पंक्तियों से ही लगा, जिसका भाव यह है[१] 'No German scholar can be so painstaking and elaborate :n his effert etc."

विहारी-रत्नाकर आज भी बिहारी-सतसई की प्रामाणिक एवं सर्वश्रेष्ठ टीका है। इसके लिए यदि हम रत्नाकर जी को कोटिशः धन्यवाद भी दें तब भी वह कम ही होगा। हिंदी-साहित्य-संसार उनकी इस देन का सदैव कृतज्ञ रहेगा।

१४. सूरसागर

सूर के पद हिंदी साहित्य के अमूल्य रत्न है। रत्नाकर जी अपने जीवन के अंतिम दिनों में इन्हीं रत्नों को खोजकर इनका एक अमूल्य एवं अनुपम हार बनाकर हिंदी साहित्य को अर्पण करना चाहते थे, किन्तु खेद है कि उनकी यह आशा पूर्ण न हो सकी और 'ऊधो मन की मनहि रही' के अनुसार वह हार पूर्ण होते-होते रह ही गया।

सूर एक लाख पदों के रचयिता कहे जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरसागर एक विशाल ग्रंथ है। इसके सम्पादन में अपूर्व साहस, धैर्य एवं अर्थ की आवश्यकता थी। विहारी-रत्नाकर से निवृत्त होकर रत्नाकर जी इसी महत्त्व-पूर्ण कार्य में लगे। वे नवम सर्ग तक पूर्ण तथा दशम सर्ग का तीन-चौथाई भाग सम्पादित कर चुके थे तथा कुछ भाग प्रकाशित भी हो चुके थे। बाद में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने उनके इस अधूरे कार्य की पूर्ति की। वाजपेयी जी लिखते हैं, "सूरसागर के इस संस्करण को प्रस्तुत करने की कल्पना सर्व-

---

१. माधुरी, अप्रैल, १६३१।

प्रथम स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी के मन में हुई थी जो व्रजभाषा और प्राचीन काव्य के अनन्य प्रेमी और मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने इस संकल्प को पूरा करने के निमित्त अनेक स्थानों से सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त की थीं और सम्पादन कार्य की प्रारंभिक रूप-रेखा भी बनाई थी। उन्होंने व्रजभाषा-व्याकरण सम्बन्धी आवश्यक शोध भी की थी और अपने इन विचारों, निर्णयों को लिपिबद्ध भी कर लिया था। व्रजभाषा की प्राचीन पुस्तकों तथा सूरसागर की पुरानी प्रतिलिपियों के आधार पर उन्होंने प्रस्तुत संस्करण के लिए एक सामान्य लिपि पद्धति का भी निर्माण किया था, परन्तु इस प्रारंभिक सामग्री को लेकर वे सम्पादक कार्य में संलग्न हुए थे इतने में उनका असामयिक शरीरान्त हो गया और उनकी योजना अकृतकार्य ही रह गई।..............................उन्होंने कष्टसाध्य बहुमूल्य सामग्री और दुर्लभ ग्रंथ सभा को समर्पित किया, जिसके बिना सभा को इस संस्करण को इतने विशुद्ध और विश्वस्त रूप में उपस्थित करना असम्भव ही था।"[1]

प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका 'माधुरी' के भूतपूर्व सम्पादक तथा हिंदी रीतिकाल-साहित्य के मर्मज्ञ पं० कृष्णविहारी जी मिश्र रत्नाकर जी के सूरसागर के सम्पादन के विषय में लिखते हैं' 'इस कार्य में दो ढाई वर्ष से आपने दो तीन लेखक भी नियुक्त कर रक्खे हैं, जो सदा उनके साथ रहते हैं और उनकी देख रेख में उनके आदेशानुसार सब प्रतियों के पदों की तालिका तैयार करते हैं। फिर रत्नाकर जी स्वयं सब प्रतियों के पद सुनकर तज्जनित सब शंकाओं का निवारण करके शुद्ध पाठ लिखवाते हैं।'[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रत्नाकर जी ने अपने व्यय एवं श्रम से इस महत्त्व-पूर्ण कार्य को करने का बीड़ा उठाकर हिन्दी साहित्य का महान् उपकार किया है। भले ही अब उनकी इस महत्ता को कोई न समझे, किन्तु यह हिन्दी साहित्यिकों के लिए उचित नहीं प्रतीत होता। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने नवम सर्ग तथा तीन चौथाई दशम सर्ग के सम्पादन को 'प्रारंभिक-रूपरेखा' मात्र कहा है, जो कुछ भी हो किन्तु इतना तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि यदि रत्नाकर जी ने इस कार्य को इतना सरल न बना दिया होता तो आज हमें सूरसागर का कोई भी प्रामाणिक पाठ अप्राप्य होता।

---

१. सूर-सागर की सम्पादकीय विज्ञप्ति से।

२. माधुरी, अप्रैल, १९३१,

रत्नाकर जी ने १७ प्रतियों का संकलन किया था। सूर के पद गीतकाव्य होने के कारण अधिक बिखरे हुए थे, अतः उन्हें एकत्र करना और भी परिश्रम का कार्य था। किन्तु रत्नाकर जी ने धैर्य नहीं छोड़ा। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यदि उनकी असामयिक मृत्यु न हो, जाती तो 'विहारी रत्नाकर' की तरह आज सूरसागर की टीका भी हिन्दी-साहित्य में जगमगाती हुई अपना विशिष्ट स्थान रखती।

काव्य रूप, भाषा एवं कला

काव्य रूप की दृष्टि से वर्गीकरण

रीतिकाल तथा द्विवेजी युग की प्रवृत्तियों का समन्वय करने वाले कवि रत्नाकर जी यदि एक ओर मुक्तक-परम्परा का पालन करते हैं तो दूसरी ओर वे इतिवृत्तात्मक कविताशैली भी ग्रहण करते हैं। रीतिकाव्य की मुक्तक परम्परा उनको विशेष प्रिय है, इसमें संदेह नहीं, किंतु प्रबन्ध काव्य की रचना ने भी उनको कम आकर्षित नहीं किया है।

स्वरूप और रचना की दृष्टि से काव्य के दो भेद माने गए हैं। १. श्रव्य-काव्य २. दृश्य-काव्य। रत्नाकर जी ने एक भी दृश्य काव्य की रचना नहीं की। श्रव्य-काव्य के निबन्ध के विचार से तीन भेद माने गए हैं। १. प्रबन्ध, २. निबन्ध, तथा ३. निर्बंध काव्य। रत्नाकर जी ने प्रबन्ध के दो प्रमुख भेदों, महा-काव्य तथा खंडकाव्य में से खंडकाव्य को ही अपनी रचना के लिए चुना था। हम उनके द्वारा रचित खंडकाव्यों पर विचार करेंगे। खंडकाव्य में किसी वृहत् कथा से ली गई प्रधान घटना का उल्लेख होता है। कथा तारतम्य में चलती है, किन्तु महाकाव्य की अपेक्षा इसका क्षेत्र सीमित रहता है तथा जीवन की अनेकरूपता न होकर एकरूपता प्राप्त होती है। कभी-कभी खंडकाव्य में गीता-त्मकता का भी समावेश रहता है। यों तो खंडकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है किन्तु आधुनिक काल में उसकी विशेष उन्नति हुई है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाओं पर आश्रित तथा स्वतंत्र कवि-कल्पना से निःसृत, दोनों रूपों में खण्डकाव्य की रचना हुई है। उदाहरणार्थ : रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, हरिश्चन्द्र, गंगावतरण आदि खण्डकाव्य पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाओं पर आश्रित हैं, तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' और 'मिलन' कवि कल्पना से निःसृत हैं। रत्नाकर जी ने दो खण्डकाव्यों की रचना की, जिनका उल्लेख करना उचित होगा।

खंडकाव्य, १. हरिश्चन्द्र

हरिश्चंद्र का उपाख्यान पौराणिक उपाख्यान है। श्री मद्भागवत में इसका मूल रूप मिलता है। राजा हरिश्चंद्र एक सत्यप्रिय तथा त्यागी शासक के रूप में चित्रित किये गए हैं। श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त भविष्यपुराण में भी थोड़े-

बहुत परिवर्तन से हरिश्चंद्र की कथा मिलती है। हिन्दी में भारतेंदु हरिश्चंद ने आर्यक्षेमेश्वर के चंडकौशिक के आधार पर सत्य-हरिश्चंद्र नाटक की रचना की थी और इसी पौराणिक कथा का आधार लिया था। रत्नाकर जी ने भारतेन्दु के नाटक के आधार पर ही इस काव्य की रचना की है। नाटक की कथा से रत्नाकर जी की कथा का कथानक बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

२. खंडकाव्य, गंगावतरण

गंगावतरण को भी खण्डकाव्य के अन्तर्गत लिया जाना उचित है। गंगावतरण में रत्नाकर जी की उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यद्यपि यह कथा श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होती है, किन्तु प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण से ही रत्नाकर जी ने इसे ग्रहण किया है। शृङ्गार, वीर तथा करुण रसों का परिपाक इस काव्य में विशेष रूप से मिलता है। कथा-प्रबन्ध की दृष्टि से यह एक सुसंगठित रचना है। वर्णन की विशदता के आधार पर इसे महाकव्य की श्रेणी में रखने का प्रयत्न भी किया जाता है, परन्तु वाल्मीकीय रामायण का एक अंशमात्र होने के कारण इसे प्रधानतया खण्ड-काव्य ही कहा जाना चाहिए। इस काव्य में भी कवि ने कथा-प्रसंग से अधिक वर्णनों पर ध्यान दिया है। गंगा के प्रवाह का वर्णन कवि ने अनेक रसों में बड़ी ही चित्रात्मक शैली में किया है। सप्तम सर्ग से दो-एक उदाहरण लिए जा सकते हैं—

> उड़ती फुही की फब्ब फबती फहरति छबि छाई।
> ज्यौं परबत पर परत भीन बादर दरसाई॥
> तरनि-किरन तापर बिचित्र बहु रंग प्रकासै।
> इन्द्रधनुष की प्रभा दिव्य दसहूँ दिसि भासै॥ ३३॥
> मनु दिगंगना गंग न्हाइ कीन्हे निज अंगी।
> नव भूषन नव-रत्न-रचित सारी सत-रंगी॥
> गंगागम-पथ माहिं भानु कैधौं अति नीकी।
> बांधी बन्दनवार बिबिध बहु पटापटी की॥ ३४॥

वातावरण उत्पन्न करने में रत्नाकर जी कुशल हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समान इन्होंने नागरिकों का गंगा-स्नान बड़े ही मनोरम ढङ्ग से चित्रित किया है। नवम सर्ग के अन्तिम अंश को पढ़कर भारतेन्दु हरिश्चंद्र के गंगा-छवि-वर्णन का स्मरण हो आता है। गंगावतरण रत्नाकर जी का प्रौढ़तम काव्य है और प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत इसका स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

निबन्ध-काव्य

विशुद्ध वर्णनात्मक काव्य को निबन्ध काव्य के अन्तर्गत स्थान प्राप्त होता है। यों तो प्रबन्ध के रूप में महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य दोनों ही वर्णन-प्रधान हो सकते हैं, किन्तु इन्हें निबंध-काव्य कहना उचित न होगा। आधुनिक काल के गद्य-साहित्य में निबन्ध का आविर्भाव तथा प्राचुर्य होने के साथ ही पद्यात्मक निबन्धों का भी आधिक्य हुआ, यों तो इसका प्रचलन रीतिकाल में ही हो गया था। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने लिखा है :—

"कलात्मक प्रबन्धों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है, जिसे हम वर्णनात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जलोत्सव-वर्णन, मङ्गल-वर्णन, रामकलेवा इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।"

नवीन-धारा के आरम्भ में ही छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखे गए। प्रथम उत्थान में पं० प्रतापनारायण मिश्र इस ओर झुके तथा उन्होंने इति-वृत्तात्मक काव्य लिखे। द्विवेदी युग में उनकी प्रेरणा से सीधी-सादी भाषा में इतिवृत्तात्मक पद्य लिखने की एक परम्परा-सी बन गई और इसका प्राचुर्य होने लगा। रत्नाकर की का हिंडोला, कलकाशी, समालोचनादर्श इसी कोटि के काव्य हैं।

१. हिंडोला

इसमें राधाकृष्ण के वृन्दावन विहार और उनके झूलोत्सव का बड़ा मनोरम वर्णन कवि ने किया है। कथा-सूत्र कुछ भी नहीं है, केवल वर्णन की ही प्रधानता है। इस प्रकार का काव्य प्रमुख रूप से रसात्मक ही कहा जाना चाहिए। रस परिपाक ही ऐसे काव्य का प्रमुख उद्देश्य होता है। हिंडोला में रूप, दृश्य तथा वातावरण के मिश्रण से कवि ने रसात्मकता तथा कला-त्मकता का सुन्दर समन्वय किया है।

२ कलकाशी

प्राचीन महाकाव्यों में वर्णन के अन्तर्गत वस्तुओं की सूची देने की पद्धति थी। विशेष रूप से जायसी ने पद्मावत में भोज्य-पदार्थों आदि का वर्णन ऐसा ही किया है। बारात के वर्णन में हजारों प्रकार के घोड़ों के नाम गिनाए हैं। महाकाव्य के अन्तर्गत इसी प्राचीन वर्णनात्मक शैली को ग्रहण करके रत्नाकर जी ने कलकाशी में काशी के विस्तृत वैभव को अङ्कित किया है। इसमें वर्णनात्मक काव्य के अनुसार एक घटना-मात्र का वर्णन है।

३ समालोचनादर्श

यह अलेग्जेंडर पोप के आलोचनात्मक निबंधों (Essays on Criticism) का पद्यानुवाद है। वर्णनात्मक निबन्ध होने के कारण इसे भी निबन्ध-काव्य की कोटि में स्थान दिया गया है।

निर्बन्ध-काव्य

निर्बन्ध-काव्य प्रधानतया मुक्तक और गीत में विभक्त किया जा सकता है।

मुक्तक

इसके पदों में तारतम्य सम्भव नहीं होता तथा प्रत्येक पद अपने में पूर्ण एवं रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। मुक्तक पाठ्य एवं गेय दो प्रकार के होते हैं। पाठ्य में कवि तटस्थ होकर वर्णन करता है किन्तु गेय में कवि के भावों की विशेष रूप से अभिव्यंजना होती है। तुलसी और भूषण के कवित्त, सवैये, तथा विहारी के दोहे आदि मुक्तक श्रेणी में आते हैं। रत्नाकर जी के अष्टक, लहरीत्रय, प्रकीर्ण-पद्यावली आदि भी मुक्तक-काव्य हैं।

गीत

भावातिरेक में ताल, लय एवं स्वर संयुक्त स्वाभाविक प्रवाह को गीत-काव्य कहा जाता है। गीतकाव्य में भाव तथा रागात्मिकता, आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है, वर्ण्य-विषय का अभाव रहता है। ये गीत एकमात्र अंतः-प्रेरित होते हैं। गीत भी ग्राम्य-गीत और साहित्यिक गीत दो प्रकार के होते हैं। होली, आल्हा आदि ग्राम्य-गीत के अन्तर्गत तथा सूर, मीरा आदि के पद साहित्यिक गीतों के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य में साहित्यिक गीतों का ही विशेष स्थान होता है।

साहित्यिक-गीत कथाश्रित भी हो सकते हैं। इनमें आत्म-निवेदन किसी पात्र के माध्यम से होता है। भ्रमरगीत की परम्परा इसी साहित्यिक गीत-काव्य के अंतर्गत मानी जाती है। प्रबन्ध-मुक्तक इसी साहित्यिक गीत के अंतर्गत रखा जा सकता है। रत्नाकर जी का उद्धवशतक प्रबन्ध-मुक्तक माना जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें प्रबन्धात्मकता होते हुए भी भावों को ताल, लय एवं स्वर संयुक्त अभिव्यंजना प्राप्त होती है और प्रत्येक पद पूर्ण रसानुभूति प्रदान करने में समर्थ है।

मुक्तक

मुक्तक काव्य की रचना के लिए कुछ विशेष परिस्थितियाँ अपेक्षित होती हैं। या तो कवि की भावना इतनी अंतर्मुखी होनी चाहिए कि वह गीतात्मक

शैली में अपने भावों की अभिव्यञ्जना करे अथवा उसमें काव्य चमत्कार को प्रदर्शित करने की आकांक्षा उत्पन्न हो। नीति, उपदेश की प्रवृत्ति भी मुक्तक रचना को प्रेरणा प्रदान करती है। वीरगाथा-काल में उपर्युक्त सारी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। रासो काव्य में तथा वीर गीतों में यद्यपि कथा प्रबंध की ओर ध्यान रहा किंतु मुक्तक शैली की प्रवृत्तियाँ भी इस काव्य में लक्षित होती हैं। भक्ति-संबंधी स्वतंत्र छंद इस काव्य में बिखरे पड़े हैं, जो भावानुभूति की गहराई को व्यक्त करते हैं। चमत्कारवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है, जिसमें कवि विलक्षण कल्पनाओं तथा सूक्तियों के द्वारा कला का प्रदर्शन करता है। नीति, उपदेश संबंधी दोहे भी इस काव्य में मिलते हैं। भक्तियुग विशेष रूप से अंतर्मुखी अनुभूतियों का युग है। अतएव इस युग में मुक्तक का बड़ा निखरा हुआ स्वरूप देखा जा सकता है यद्यपि भक्तों में भी चमत्कार,वृत्ति का अभाव नहीं था। सूर के कूटशैली के पद इसके उदाहरण हैं। नीति, उपदेश की भावना से युक्त मुक्तक भी इस युग में प्राप्त होते हैं। रीतिकाल तो शृंगार, अलंकरण और कला का युग था ही। इस प्रकार रत्नाकर जी के सम्मुख एक वही प्रौढ़ परम्परा विद्यमान थी। जिसका उपयोग इन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया।

रत्नाकर जी के मुक्तक काव्य को स्थूल रूप से हम दो भागों में बाँट सकते हैं, विषय की दृष्टि से तथा छंद की दृष्टि से। विषय के अनुसार इनके मुक्तकों में विशेष बात यह दिखलाई पड़ती है कि इन्होंने प्रायः सभी रसों की अभिव्यञ्जना अपने मुक्तक छंदों में की है। मुक्तक काव्यकार अधिकांशतः केवल कोमल रसों की रचना ही करते हैं। सूर के काव्य में परुष रसों का प्रायः अभाव है। तुलसी की विनयपत्रिका में भी शांत तथा करुण रस का ही प्राधान्य है। वीर, रौद्र, भयानक इत्यादि रसों का भी सफल परिपाक रत्नाकर जी के मुक्तकों में मिलता है। शृंगार, हास्य, करुण, शांत इत्यादि का सन्निवेश तो मुक्तक शैली के अनुरूप हुआ ही है, नीति, उपदेश इत्यादि का भी समावेश स्थान-स्थान पर किया गया है।

शृंगार रत्नाकर जी का प्रमुख रस है। रीतिकालीन परिपाटी पर इन्होंने शृंगार का अधिक से अधिक उदात्त, यहाँ तक कि मर्यादा का उल्लंघन करने वाला वर्णन भी किया है। आलम्बन राधा-कृष्ण का रूप-वर्णन, उद्दीपन रूप में ऋतु-वर्णन अथवा प्रकृति-वर्णन, व्यापक अनुभाव तथा कितने ही संचारी भावों का विशद स्वरुप इनके काव्य में मिलता है।

आलम्बन रूप में कृष्ण का निम्नलिखित वर्णन रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार ही हुआ है—

सो तो करै कलित प्रकास कला सोरह लौं,
यामैं बास ललित कलानि चौगुनी कौ है।
कहै 'रतनाकर' सुधाकर कहावै वह,
याहि लखैं लगत सुधा कौ स्वाद फीकौ है॥
समता सुधारि औ बिसमता विचारि नीकैं,
ताहि उर धारि जो बिसद ब्रज-टीकौ है।
चारु चाँदनी कौ नीकौ नायक निहारी कहौ,
चाँदनी कौ नीकौ कै हमारौ चाँद नीकौ है॥४॥

—शृंगार लहरी

इसी प्रकार निम्नलिखित छन्द में वियोग शृंगार के अन्तर्गत उद्दीपन विभाव का मार्मिक वर्णन किया गया है:—

हाय हाय करत विहाइ दिन रैनि जात,
कटिबौ सुहात सदा सैननि सिरोही सौं।
कहै 'रतनाकर' उदासी मुख छाइ जाति,
हांसी बिनसाइ जाति आनन बिछोही सौं॥
भूख प्यास बूझतिं झँवात झहरात गात,
छार ह्वै बिलात सुख-साज सब रोही सौं।
हाय अति औप ही उदेग-अगि जागि जाति,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं॥

—शृंगार लहरी

शृङ्गार की यह परम्परा जहां एक ओर शुद्ध रीतिकालीन परम्परा से प्रभावित है वहीं दूसरी ओर इसके उपर भक्तिकालीन भावना का प्रभाव भी लक्षित होता है। शृङ्गार-लहरी का प्रथम छन्द यद्यपि सामान्य दृष्टि से शृङ्गार के आलम्बन नन्दकिशोर कृष्ण के रूप का वर्णन है, किन्तु छबीली छटा का प्रकाश जो अवनी और आकाश मध्य से लगाकर दिक्छोरों तक छिटका हुआ है, उसमें कृष्ण की अलौकिकता का आभास सरलतापूर्वक मिल जाता है। छन्द दृष्टव्य है—

आवै इठलात नन्द-महर-लड़ैतौ लखि,
पग-पग भाइ-भीर अटकति भावै है।

रूप-रस-माती चारु चपल चितौनि कुल-,
गैल गहिबे कौं हठि हटकति आवै है ॥
अवनि-अकास-मध्य पूरि दिग-छोरनि लौं,
छहरि छबीली छटा छटकति आवै है।
मटकत आवै मंजु मोर कौ मुकुट माथैं,
बदन सलोनी लट लटकति आवै है ॥१॥

—श्रृङ्गार लहरी

इसी प्रकार श्रृङ्गार-लहरी का द्वितीय छन्द राम को लक्ष्य करके लिखा गया है। राम-विवाह के अवसर पर मिथिलावासिनी नारियों के द्वारा उनके दर्शन का वर्णन बड़ी औत्सुक्यपूर्ण शैली में किया गया है:—

आए अवधेस के कुमार सुकुमार चारु,
मंजु मिथिला की दिव्य देखन निकाई हैं।
सुनि रमनी-गन रसीली चहुं ओरनि तैं,
भौंरनि की भौंर दौरि दौरि उमगाई हैं।
तिनके अनोखे-अनिमेष दृग-पाँतिनि पै,
उपमा तिहुँ पुर की ललकि लुकाई हैं।
उन्नत अटारिनि पै खिरकी-दुवारिनि पै,
मानो कंज पुंजनि की तोरन तनाई हैं ॥२॥

—श्रृङ्गार लहरी

श्रृंगारलहरी का तृतीय छन्द भी भक्त्यात्मक श्रृङ्गार का उदाहरण है, जिसमें कवि अपनी अनन्य भक्ति के सम्मुख सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों को छिन्न कर देना चाहता है, 'सब तज हरि भज' का सिद्धान्त इस छन्द के मूल में है:—

अब न हमारो मन मानत मनाऐं नैंकु,
टेक करि बापुरो बिबेक नखि लेन देहु
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-सुधा कौं धाई,
तृषित चकोरनि अघाइ चखि लेन देहु ॥
संक गुरु लोगनि के बंक तकिबे की तजि,
अंक भरि सिगरौ कलंक सखि लेन देहु।
तजि कुल-कानि के समाज पर गाज गेरि,
आज ब्रजराज की लुनाई लखि लेन देहु ॥३॥

—श्रृङ्गार लहरी

श्रृंगारविषयक इन मुक्तकों में कवि की अनुभूति, चित्रणकला, चमत्कारवृत्ति तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। मुक्तक-काव्य का संगीतत्व भी इन छंदों में अनुप्रास की सहायता से सिद्ध कर लिया गया है।

श्रृंगारयुगीन कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में प्रशस्ति-काव्य की रचना किया करते थे। रत्नाकर जी के सम्मुख वैसी कोई समस्या न थी। गंगावतरण के अंत में इन्होंने अवधेश्वरी श्रीजगदम्बा देवी के आदेशानुसार उक्त ग्रंथ की रचना की बात कही है, इस प्रशस्ति-काव्य का रूप रत्नाकर जी ने वीर पूजा-रूप में ग्रहण कर लिया है। इसके अष्टक भारतीय गौरव के पौराणिक अथवा ऐतिहासिक स्वरूप को लेकर विरचित हुए हैं। भाव और भाषा की दृष्टि से रत्नाकर जी के काव्य का यह अंश बड़ा ही ओजपूर्ण बन पड़ा है। अभिमन्यु-सम्बन्धी निम्नलिखित छंद भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टियों से पूर्णतया सुसंगठित है:—

'धरम-सूपत की रजाइ चितचाही पाइ,
धायौ धारि हुलसि हथ्यार हरबर मैं।
कहै 'रतनाकर' सुभद्रा को लड़ैतो लाल,
प्यारी उत्तराहू की रुक्यो न सरबर मैं।
सारदूल-सावक वितुंड-झुंड मैं ज्यों, त्यों हीं,
पैठ्यो चक्रव्यूह की अनूह अरबर मैं।
लाग्यौ हास करन हुलास पर बैरिनि के,
मुख चन्द-हास चन्दहास करवर मैं ॥१॥

—वीराष्टक, वीर अभिमन्यु

वीर काव्य के इन छंदों में कवि की हिंदुत्व-भावना बहुत कुछ स्पष्ट परिलक्षित होती है और यह प्रवृत्ति उसे भूषण तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिली हुई जान पड़ती है। शिवाजी की युद्ध-वीरता का वर्णन करते हुए जब कवि कहता है, "साहसी शिवा के बाँके हल्ला को धड़ल्ला देखि, अल्ला अल्ला करत मुसल्ला भागे जाते हैं, "तब सहसा भूषण का स्मरण हो आता है। नीलदेवी की वीरता का वर्णन करने की प्रेरणा कवि को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नीलदेवी नाटक से मिली है, ऐसा बहुत कुछ सम्भावित जान पड़ता है। निम्नलिखित पद वीर रस का सुन्दर उदाहरण है:—

"दुर्ग ते तड़पि तड़िता सी तड़कैं ही कढ़ी,
कड़कि न पाए कड़खाहूँ अबै मुरगा।
कहै 'रतनाकर' चलावन लगी यों बान,
मानौ कर फैले फुफुकारी मारि उरगा॥
आसा छाड़ि प्रान की अमान की दुरासा माँड़ि,
भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
देबी दुरगावती मलेच्छ-दल गेरे देति,
मानौ दैत्य-दलनि दरेरे देति दुरगा॥१॥

—वीरष्टक:महारानी दुर्गावती

द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य में रत्नाकर जी के इस वीर काव्य का विशेष महत्व है। इन्होंने इतिवृत्त में भावुकता तथा कला का समावेश करते हुए आगे के कवियों को सुसंगठित मुक्तक रचना का पथ-प्रदर्शन किया है, इसमें कोई संदेह नहीं। रौद्र और भयानक रसों का समावेश वीर के साथ ही साथ हो गया है।

हास्य का वर्णन कवि ने अधिकतर स्वतन्त्र रूप में न करके सहायक रूप में ही किया है। शृङ्गार अथवा भक्ति के संचारी रूप में कवि ने इस रस का वर्णन किया है। भक्ति के सहायक रूप में कवि ने एक मनोरंजक दृश्य का चित्रण किया है। भगवान् शंकर कृष्ण के वंशीवादन पर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि भंग छानना छोड़कर तथा शैल-सुता को साथ लेकर उसी की मधुर स्वर-लहरी सुनने के लिए नन्दी पर सवार होकर चल देते हैं। कवि की कल्पना में एक बड़ा ही रोचक हास्य का भाव विद्यमान है :—

बैठे भंग छानत अनंग-अरि रंग रमे,
अंग-अंग आनँद-तरंग छवि छावै है।
कहै 'रतनाकर' कछूक रंग ढंग औरै,
एकाएक मत्त ह्वै भुजंग दरसावै है।
तूँबा तोरि साफी छोरि मुख विजया सौं मोरि,
जैसे कंज-गंध पै मलिन्द मंजु धावै है।
बैल पै बिराजि संग सैल-तनया लै बेगि,
कहत चले यौं कान्ह बासुरी बजावै है॥२३॥

शृङ्गार लहरी

शान्त-रस के अन्तर्गत कवि ने जीवन की अनित्यता की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते हुए सृष्टि-मात्र की क्षणभंगुरता का उल्लेख किया है। यद्यपि ऐसे कथनों में भी कुछ कलात्मक भावना ही प्रधान दिखलाई पड़ती है तथापि कवि पाठक के हृदय में निर्वेद की भावना जागृत करने में सफल हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं।

नीति, उपदेश के अंतर्गत कवि ने अपने दोहों में रहीम, विहारी तथा वृन्द के समान कुछ कलात्मक शैली में नीति का कथन किया है। इन उपदेशों में कवि ने जीवन की सामान्य घटनाओं अथवा मान्यताओं के आधार पर दृष्टांत अथवा उदाहरण अलंकार के आधार पर जीवन का आदर्श निर्मित करने का प्रयत्न किया है। ऋणग्रस्त व्यक्ति की दयनीय दशा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है:—

"ऋनी धनी सौंहैं परत यौं परिहरत उदोत,
देखत दिनकर दरस ज्यौं चन्द मन्द मुख होत।"

—दोहावली

मनुष्य को उचित है कि संयम और सुखपूर्वक रहते हुए अपने पड़ोसी को भी सुखी बनाए रखने का प्रयत्न करें। इसी में दोनों को सुख मिलेगा। उदाहरणार्थ कवि कहता है, 'कान कहानी सुनते हैं और निद्रा (सुख) नैनों को प्राप्त होती है:—

'जतन परोसी-चैन कौं करिबौ अति सुख देत।
सुनत कहानी कान ज्यौं नैन नींद के हेत॥ ४॥

—दोहवली

नीति-उपदेश का दूसरा स्वरूप प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। इसमें कवि ने अन्योक्ति का सहारा ग्रहण किया है। काक के ऊपर अन्योक्ति करते हुए उसने अभिमानियों को चेतावनी दी है कि वे थोड़ा-बहुत सम्मान पाकर कोकिल अर्थात् सत् पुरुषों के सम्मुख अहंकार न प्रकट करें:—

"आयसु दै टेरि बलि पायस खवैए खिन,
निज गुन रूप की हमायस बढ़ावै ना।
कहै 'रतनाकर' त्यौं बावरी बियोगिनि के,
कंचन मढ़ाए चञ्चु चाव चित ल्यावै ना॥
निज तन धारे इन्द्र नन्द मतिमन्द जानि,
मानि दृग-हानि हियैं हौंस हुमसावै ना।

हंस की दिखावै ना नृसंस गति गर्व छाक,
एरे काक कोकिल कौं काकली सुनावै ना ।।
—अन्योक्ति

इसी प्रकार दीपक पर अन्योक्ति करते हुए इन्होंने उस सत्पुरुष का गुणगान किया है जो सबको समान रूप से प्रकाश प्रदान करता है:—

"कवि पंडित कैं धाम होत आदर अधिकारी।
सुजन-सभा मैं करति प्रभा ताकी उजियारी ।।
पै यह लहि सनमान नैंकु निज बानि न त्यागत।
सबही के उपकार हेत एकहि सो जागत ।। ३ ।।
नीच दरिद्री मूढ़ कूढ़ मूरख पापी कौं।
देत प्रकास समान रूप रुचि सौं सबही कौं ।।
स्वर्न रजत के पात्र माहिं नहिं अधिक प्रकासै।
नहिं माटी के घटित दिया मैं कछु घटि भासै ।।
जब रोम-रोम इमि नेह भरि गुनमथ सबको हित करै।
तब लहि पदवी कुल दीप की दीप-दीप दीपति भरै ।।४।।
—दीपक

संक्षेप में रत्नाकर जी ने अपने मुक्तकों का क्षेत्र पर्याप्त रूप से व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है, इनमें नवीनता और प्राचीनता का सफल समन्वय देखा जा सकता है। प्राचीनता के आधार पर यदि वे कलात्मकता को विशेष आश्रय देते हैं तो आधुनिकता की दृष्टि से अपने मुक्तकों को अनुभूति-पूर्ण बनाने का प्रयत्न भी करते हैं। गेयत्व का गुण तो प्राचीन तथा आधुनिक मुक्तकों में समान रूप से विद्यमान है ही।

रत्नाकर जी के मुक्त-काव्य को छंद के अनुसार विभाजित करने पर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने प्रधानतया कवित्त (घनाक्षरी), सवैया, दोहा तथा दो-चार बरवै तथा छप्पय का प्रयोग किया है। इन सब छंदो में भी कवित्त अथवा घनाक्षरी का स्थान ही प्रमुख है। इसके उपरांत सवैया तथा तीसरे स्थान पर दोहे का प्रयोग किया गया है।

मुक्तक की दृष्टि से घनाक्षरी पर दृष्टि डालते हुए हम इसके द्वारा अभिव्यंजित भावानुभूति, कलात्मकता, चमत्कारवृत्ति तथा गेयत्व पर दृष्टि डालेंगे।

भावानुभूति मुक्तक का एक विशेष गुण है। 'उद्धव शतक' में वियोग की गहरी अनुभूति का चित्रण रत्नाकर जी ने लाक्षणिक शैली द्वारा बड़ी सफलता

के साथ किया है। अनुभावों के चित्रण के द्वारा भी इन्होंने छंदगत गहरी अनुभूतियों का सफल चित्रण किया है।

आये दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की,
    और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
कहै 'रतनाकर' बिलोकि बिलखात उन्हें,
    येऊ कर काँपत करेजैं धरि लेत हैं।
आवति कछुक पूछिबै औ कहिबे को मन,
    परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं।
आनन उदास साँस भरि उकसौंहैं करि,
    सौंहैं करि नैननि निचौंहैं करि लेत हैं ॥१०७॥

—उद्धवशतक

उपर्युक्त छंद में उद्धव तथा कृष्ण दोनों की करुण निराशापूर्ण विह्वल मनःस्थिति का चित्रण कवि ने केवल अनुभावों के प्रदर्शन से बड़ी सफलतापूर्वक किया है। इस प्रकार की गहरी अनुभूतियों की व्यंजना मुक्तक काव्य की विशेषता है और रत्नाकर जी इसमें सिद्धहस्त हैं।

कलात्मकता के अन्तर्गत कवि की कल्पनाएँ, सूक्तियाँ, आलंकारिकता इत्यादि को रखा जा सकता है। उद्धवशतक में इस कलात्मकता की प्रचुरता का दर्शन होता है। उत्ताप से जल का उबलना और चारों ओर फैल जाना एक प्राकृतिक व्यापार है। राधा के हृदय में वियोगाग्नि के प्रज्वलित होने से उसके नेत्रों में भरा हुआ कृष्ण-सौन्दर्य का जल उत्तप्त होकर फैल जायगा, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार में प्रलय हो जायेगी। यह कवि की विलक्षण कल्पना है:—

हरि-तन पानिप के भाजन दृगंचल तैं,
    उमगि तपन तैं तपाक करि धावै ना।
कहै 'रतनाकर' त्रिलोक-ओक-मंडल मैं,
    बेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावै ना॥
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि,
    पल मैं पतालपुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह,
    बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावैं ना ॥८५॥

—उद्धवशतक

उद्धव-शतक में ऋतु-वर्णन का सम्पूर्ण अंश ऐसी ही कल्पनाओं से परिपूर्ण है। रूप तथा वातावरण का चित्रण रत्नाकर जी ने बड़ी सफलता के साथ किया है। ब्रज से लौटते समय उद्धव की आत्म-विस्मृति की दशा का बड़ा ही मनोरम वर्णन कवि ने कुछ थोड़ा-सा विनोदात्मक ढङ्ग से किया है। अनुभूति की तीव्रता, भावों की सुकुमारता तथा कलात्मक-अभिव्यक्ति इन सभी तत्त्वों का सामञ्जस्य इस छंद में देखा जा सकता है:—

प्रेम-मद-छाके पग परत कहाँ के कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै 'रतनाकर' यों आवत चकात ऊधौ,
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है।
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बहोंलिनि जो आँस-अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका पठाई है ॥१०८॥

—उद्धवशतक

काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग भाव की स्पष्ट अभिव्यंजना के लिए किया जाता है। रत्नाकर जी ने उपमा, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, वक्रोक्ति इत्यादि बहुप्रचलित अलङ्कारों का सफल प्रयोग अपने मुक्तकों में किया है। यद्यपि कहीं-कहीं पर श्लेष आदि के प्रयोग के कारण उनका काव्य चमत्कार-प्रधान हो उठा है, किंतु फिर भी अलंकारों की सहायता से उन्होंने एक विशेष आकर्षण तथा हृदयग्राहिता उत्पन्न कर दी है। एक ही भाव को स्थायित्व प्रदान करने के लिए रूपक का उपयोग बहुत सफल होता है। उद्धव के हृदय-परिवर्तन तथा सगुण के प्रति उनमें आस्था की उत्पत्ति का वर्णन कवि ने पारा-भस्म के रसायन-निर्माण के रूपक द्वारा किया है। कवि के आयुर्वेद ज्ञान के आधार पर इस रूपक का सङ्गठन किया गया है। कवि की आलंकारिक-कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है :—

"दीन्यो प्रेम-नेम गुरुवागि गुन ऊधव कौं'
हिय सौं हमेव-हरुवाइ वहिराइ कै।
कहै 'रतनाकर' त्यों कंचन बनाइ काय,
ज्ञान अभिमान की तमाइ बिनसाइ कै।
बातनि की धौंक सौं धमाई चहुँ कोदनि सौं'
निज बिरहानल तपाइ पघिलाइ कै।

गोप की बधूटी प्रेम-बूटी के सहारे भारे,
चल-चित-पारे की भसम-भुरकाइ कै ॥१०२॥

—उद्धवशतक

रूपक रत्नाकर जी का प्रिय अलंकार है और इन्होंने बड़े गम्भीर तथा अनूठे रूपकों की सृष्टि की है। घृत और मधु समान रूप से मिलने पर विष हो जाते हैं, इस लोक-विश्वास के आधार पर कवि ने निम्नलिखित मनोरम रूपक की सृष्टि की है :—

कान्ह कूबरी के हिय-हुलसे-सरोजनि तें,
अमल अनन्द मकरन्द जो ढरारै है।
कहै 'रतनाकर' यों गोपी उर संचि ताहि'
तामैं पुनि आपनी प्रपंच रंच पारै है
आई निरगुन गुन गाइ ब्रज मैं जो अब'
ताको उद्गार ब्रह्मज्ञान रस गारै है।
मिलि सो तिहारौ मधु मधुप हमारैं नेह
देह मैं अछेह विष विषम बगारै है ॥७६॥

—उद्धवशतक

उपमा और रूपक का सुन्दर समन्वय भी स्थान-स्थान पर मिलता है। उद्धवशतक में पूर्व स्मृतियों का रूपक काँटे से बाँधा गया है, किन्तु "काँटै लौं करेजैं कसकत है" में उपमा प्रमुख होकर सामने आ गई है—

चलत न चार्‌यौ भाँति कोटिनि बिचार्‌यौ तऊ,
दाबि-दाबि हार्‌यौ पै न टार्‌यौ टसकत है।
परम गहीली बसुदेव-देवकी की मिली,
चाह-चिमटी हूँ सौं न रंचौ खसकत है।
कढ़त न क्यौं हूँ हाय बिथके उपाय सबै'
धीर-आक छीर हूँ न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौं ध्यान धँर्‌यौ,
निसि-दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है ॥७॥

—द्धवशतक

उद्धवशतक का प्रथम छंद (मंगलाचरण के उपरांत) स्मरण अलंकार का अच्छा उदाहरण है। मुरझाए हुए कमल को देखकर कृष्ण को राधा का स्मरण हो आता है—

नहात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि,
बास बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यौंहीं कछु घूमि भूमि बेसुध भए कै हाय,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा-नाम कीर जब औचकि सुनायौ है॥ २॥

— उद्धवशतक

विभावना अलंकार में बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होती है। ब्रज-मंडल में बिना घनश्याम के छाए हुए ही निरंतर वर्षा-बहार विद्यमान रहती है। आलंकारिक चमत्कार का यह एक सुंदर उदाहरण है—

रहति सदाई हरिआई हिय-घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव-पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ,
उठै चित मैं चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रजमंडल मैं,
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥९०॥

— उद्धवशतक

अतिशयोक्ति अलंकार तो शृंगार युग के कवियों की विशेषता ही थी, रत्नाकर जी ने भी अतिशयोक्तियों का त्याग नहीं किया, अपितु इनमें अतिशयोक्ति से एक पग आगे बढ़कर अत्युक्ति है, जिसके ऊहात्मक वर्णन में ये असम्भावना की हद तक पहुँच जाते हैं। रत्नाकर जी ने ऐसे वर्णन अधिक नहीं किए हैं, किंतु फिर भी ऐसे उदाहरण दो चार मिलते ही हैं—

दाबि-दाबि छाती पाती लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबै कौ पैन कोऊ करि जात है।
कहै 'रतनाकर' फुरति नाहि बात कछू,
हाथ धर्‌यौ ही-तल थहरि थरि जात है।
ऊधौ के निहोरैं फैरि नैंकु धीर जोरैं पर,
ऐसौ अंग ताप को प्रताप भरि जात है।

सूखि जाति स्याही लेखनी कैं नैकुँ डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है ॥१००॥
—उद्धवशतक

इसमें शारीरिक उत्ताप के द्वारा लेखनी की नोक से स्याही सूख जाना तथा कागज का 'बररि बरि' जाना स्वाभाविकता की सीमा के बाहर की बातें हैं। इस प्रकार आलङ्कारिकता के आधार पर कलात्मकता तथा चमत्कार दोनों ही की सृष्टि रत्नाकर जी के काव्य में सफलतापूर्वक हुई है। इनके मुक्तकों का क्षेत्र इस दृष्टि से व्यापक कहा जा सकता है।

सवैया छन्द भी मुक्तक का एक बहु-प्रचलित तथा लोकप्रिय छन्द रहा है। इस छन्द में संगीततत्त्व घनाक्षरी से अधिक प्राप्त होता है। घनाक्षरी में भी गेयत्व गुण विद्यमान है, किन्तु सवैया अधिक माधुर्य तथा प्रवाह से युक्त होता है। रत्नाकर जी ने अधिक सवैयों की रचना नहीं की है, किन्तु जो कुछ रचना उन्होंने की है उसमें इनका भाषाधिकार, कलात्मकता, तथा भावुकता स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। रसखानि की मधुरता का आभास हमें रत्नाकर जी के सवैये में मिलता है—

जोग को भोग न भैहै हमैं सो संजोग की भावना टारी न जैहै।
रूपसुधा-रतनाकर छाँड़ि तृषा मृग-नीर निवारी न जैहै॥
हौड़ न आइबे, पाइबे, की परी ऊधव सो अब हारी न जैहै।
धारी न जैहै तिहारी कही वह मूरति मंजु बिसारी न जैहै॥१०॥
—प्रकीर्ण पद्यावली, स्फुट काव्य

वंशी-सम्बन्धी उपालम्भ भी रत्नाकर जी ने रसखानि के समान ही दिये हैं:—

भाव नए चित चाव नए अनुभाव नए उपराजति ही रहै।
आँस सौं नैन उसाँस सौं आनन गाँस सौं प्राननि छाजति ही रहै॥
कीजै कहा 'रतनाकर' हाय अकाज के साजनि साजति ही रहै।
कानन मैं बिन बाजे हूँ बैरिन कानन मैं नित बाजति ही रहै॥१७॥
—प्रकीर्ण पद्यावली, स्फुट काव्य

रत्नाकर जी बिहारी के भक्त थे। इन्होंने बिहारी-सतसई का गम्भीर अध्ययन किया था। इन्हें दोहे की कला का पर्याप्त ज्ञान था। इन्होंने स्वयं भी कुछ थोड़े से दोहों की रचना की है। इन दोहों में समास गुण की कला रत्नाकर जी के भाषाधिकार को सफलता के साथ व्यक्त करती है। इनके

निम्नलिखित दोहे में बिहारी की शक्तिमत्ता और शैली ज्यों की त्यों झलकती दिखाई देती है :—

भौं चितवनि डोरे बरुनि, असि कटार फँद तीर।
कटत फटत बाँधत बिंधत, जिय हिय मन तन बीर ॥१॥

—दोहावली

आशा के बन्धन में बँधे हुए प्राण-पखेरू की विवशता का चित्रण इन्होंने अपनी शब्द-शक्ति के द्वारा बड़ी मार्मिकता के साथ किया है।

आस-पास मैं परि रह्यो, प्रान-पखेरू पाइ।
हाय करत पंजर गरत, परत न तऊ उड़ाइ ॥१०॥

—दोहावली

अनुप्रास तथा यमक की सहायता से इन्होंने कलात्मक रूप-चित्रण भी प्रस्तुत किया है :—

'चन्द-मुखिनी के वृन्द-बिच निरतत श्री ब्रजचंद।
एते चन्द बिलोकि भो चन्द चकित-चित मंद ॥७॥

—दोहावली

रहीम तथा तुलसी की बरवै शैली से भी रत्नाकर जी प्रभावित हुए थे, और इन्होंने तीन चार बरवै भी रचे हैं। भक्ति तथा शृङ्गार का सुन्दर समन्वय इनमें दृष्टिगत होता है।

संक्षेप में रत्नाकर जी एक कुशल मुक्तककार थे। इनमें अपने युग की पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ संकेत रूप में दिखाई पड़ती हैं। कला इनकी काव्य-रचना का आधार है। मुक्तकों में यह कला पर्याप्त मात्रा में प्रस्फुटित हुई है। प्रबंध-रचना पर इनका जितना अधिकार है उससे कहीं अधिक मुक्तक-रचना पर है।

उद्धवशतक पर विशेष विचार

इस स्थान पर हमें उद्धवशतक की रचना-शैली पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। उद्धवशतक में मुक्तक और प्रबंध दोनों ही काव्य-रूपों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। सामान्यतः उद्धवशतक को मुक्तक की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। शृङ्गारयुगीन कवियों ने उद्धव-गोपी संवाद को लेकर उसके विविध दृश्यों का चित्रण स्फुट छंदों में, प्रधानतया सवैया और घनाक्षरी में किया है। उद्धव-गोपी-सम्वाद की कथा की ओर उनकी दृष्टि कभी इतनी आग्रहपूर्ण नहीं रही जितनी दृश्यांकन अथवा वाग्विदग्धता की ओर। दूसरे वह कथा इतनी लोकप्रचलित है कि उसके लिये किसी प्रकार का स्पष्टीकरण

आवश्यक भी नहीं है। अतः यह विषय मुक्तक के लिए पूर्णतया उपयुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। रत्नाकर जी ने उद्धवशतक के छंदों में मुक्तक के गुणों का पूर्ण समावेश किया है। मार्मिक अनुभूति, कलात्मक चित्रण, रस-चमत्कार, वाग्विदग्धता, संगीतत्व, ललित मधुर भाषा इत्यादि ऐसे गुण हैं जो मुक्तक में होने चाहिएँ और उद्धवशतक में उनका पूर्ण समावेश है। किंतु उसी के साथ-साथ कवि ने उद्धवशतक में कथा-प्रबन्ध की प्रवृत्ति को भी उतना ही महत्व प्रदान किया है, जितना मुक्तक शैली को।

यह काव्य मंगलाचरण से आरम्भ होता है। इसके उपरांत कवि ने अपने विषय को प्रस्तुत करने के लिए एक उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। यमुना स्नान के अवसर पर एक मुरझाए हुए कमल को देखकर अधोमुखी विरह-विधुरा राधा का स्मरण तथा इसी स्मृति की प्रेरणा से उद्धव को व्रजमंडल भेजने का उपक्रम, उद्धव के द्वारा कृष्ण के परब्रह्म रूप का प्रतिपादन, व्रज-मंडल गमन, भाव-परिवर्तन तथा वहाँ से लौटकर कृष्ण के सम्मुख गोपिकाओं के प्रेमदर्शन का बखान करते हुए स्वयं प्रेममय हो जाना, यह क्रमबद्ध कथा सम्पूर्ण ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक चलती है। उद्धव का पूर्ण रूप से परिष्कृत होकर प्रेममय हो जाना ही इस कथा-प्रबन्ध का परमोद्देश्य है। कथा-प्रबन्ध के प्रमुख तत्व, चरित्र-चित्रण तथा संवाद हमको आरम्भ से अन्त तक व्याप्त मिलते हैं। यद्यपि गोपिकाओं के चरित्र में क्रमिक विकास के लिए कोई अवसर इस कथा में नहीं है तथापि उनके प्रेमी हृदय के विविध-पक्षों का उद्घाटन उनके प्रेम को पूर्णता प्रदान करता है। उद्धव का चरित्र अवश्य क्रमिक परिवर्तन के द्वारा परम विकास तक लाया गया है। हृदय तथा बुद्धि का सुन्दर समन्वय करने का प्रयत्न इस चरित्र-विकास में मिलता है। सूरदास की भावुक तथा नन्ददास की तर्कपूर्ण शैलियों का प्रयोग कवि ने यहाँ पर सफलतापूर्वक किया है। संवादों के आधार पर तो सारी कथा ही निर्मित है। सूर के भ्रमरगीत की वाग्विदग्धता तथा दरबारी कवियों की वाक्चातुरी दोनों का प्रभाव उद्धवशतक के छंदों में स्पष्ट लक्षित होता है।

सगुण-भक्ति की स्थापना तथा निर्गुण का निराकरण इस काव्य का उद्देश्य है। श्रीमद्भागवत तथा सूर का काव्य, इसके आधार कहे जा सकते हैं। इस प्रकार मुक्तक के सम्पूर्ण गुणों से युक्त होने के साथ-साथ प्रबन्ध के तत्वों को भी इस काव्य में ग्रहण किया गया है। अतः इसे प्रबन्ध-मुक्तक की संज्ञा देना अनुचित न होगा।

वर्णन शैली और कला

रत्नाकर जी ने प्रायः परम्पराओं को ही अपना आदर्श स्वीकार किया है। जहाँ एक ओर इन्होंने शृंगारी कवियों की भावुकता, कला, भाषा आदि को अपनाया है, वहीं दूसरी ओर वर्णन-शैली के प्राचीन आदर्श को भी ग्रहण किया है। प्रबंध काव्यों में आवश्यकतानुसार समास तथा व्यास शैलियों का संतुलन कवि की प्रतिभा का परिचायक है। अनावश्यक अंशों को संक्षिप्त करके तथा मार्मिक-स्थलों को विस्तार देते हुए कवि अपने काव्य में जिस रोचकता तथा संगठन की सृष्टि करता है वह उसकी कला का परिचायक है। जायसी जैसे श्रेठ कवि भी इस संतुलन का पर्याप्त ध्यान नहीं रख सके, परंतु तुलसी ने जहाँ मार्मिक-स्थलों राम-विलाप इत्यादि का विस्तार किया वहाँ दूसरी ओर 'आगे चले बहुरि रघुराई' कहकर अनावश्यक स्थलों का परिहार भी कर दिया। रत्नाकर जी ने दोनों ही शैलियों का उपयुक्त प्रयोग किया है। गंगावतरण-काव्य के आरम्भ का अंश प्रथमसर्ग काव्य की भूमिका रूप में लिखा गया है। अयोध्या के राजवंश का वर्णन, सगर की तपस्या, उनके साठ हजार पुत्रों की उत्पत्ति, सगर का अश्वमेघ, इन्द्र के द्वारा अश्वमेध के अश्व का हरण, अश्व को खोजने का उपक्रम इत्यादि घटनाएँ केवल ३८ छंदों में ही वर्णित कर दी गई हैं। ऐसा लगता है कि गंगावतरण का उपक्रम करने के लिए कवि ने घटनाओं की पूर्व-सूचना देने का प्रयत्न किया है। किसी प्रकार का विस्तार देने की प्रवृत्ति इस सर्ग में नहीं दिखलाई देती, केवल इतना ही विस्तार कवि ने प्रदान किया है जितना काव्य-प्रभाव के लिए आवश्यक है। सगर का पुत्र असमंज बड़ा निर्दयी तथा अन्यायी था, सगर ने उसे निकाल दिया और उसके पुत्र अंशुमान को युवराज बनाया। वे स्वयं राज्यत्याग कर अश्वमेध-यज्ञ करने में संलग्न हुए। इन घटनाओं का वर्णन कवि ने बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक शैली में किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

उत असमंजहु भयौ भूरि-बल-विक्रमसाली।
पै अति उद्धत कुल-विरुद्ध निर्बुद्धि कुचाली॥

कलित कल्पतरु माँहि कटुक माहुर फल आयौ।
विधि कलंक की पंक बिमल-विधु अंक लगायौ ॥१६॥
ताकी क्रीड़ा विषम माहिं पीड़ा जग पावत।
पुर-बालन बहु पकरि सदा सो सरित डुबावत ॥
दीन प्रजा दुख पाइ-पाइ नृप-द्वार गुहारति।
सहत भूप संताप चहत तिनकी अति आरति ॥१७॥
सुनि पुकारि इक बार नीर नैननि नृप ढार्‌यौ।
तुरत ताहि तजि नेह गेह सौं दूरि निकार्‌यौ ॥
जैसे जब बहु करि उपाय ओषधि, हिय हारत।
सब अंगनि दुख देत दंत बुधिवंत उखारत ॥१८॥
ताकौं सुत सुभ अंसुमान कल-कीरतिधारी।
प्रियवादी प्रियरूप भूप-परिजन-हितकारी ॥
भयो जुवा ह्वै धीर बीर बरिबंड प्रतापी।
परम विनीत पुनीत नीति-मरजादा-थापी ॥
दियौ राज को काज ताहि जुवराज बनायौ।
अस्वमेध के करन माँहि नृप निज मन लायौ ॥
बोलि साधनी-पुंज मंजु मंडप रचवायौ।
जाकी सोभा निरखि विस्वकर्मा सकुचायौ ॥२०॥

इसी काव्य में चतुर्थ सर्ग में वृन्दावन का वर्णन कवि ने व्यास शैली में किया है। वृन्दावन के बीच गोवर्धन पर्वत, मनोरम प्रकृति, गोपियों का विहार, गायों-बछड़ों का चरना तथा उनका सौन्दर्य और इन सबके बीच में राधा-कृष्ण का समन्वित सुन्दर रूप, इन सबका बड़ा ही विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। कवि की व्यास शैली का यह सुन्दर उदाहरण है।

जायसी अथवा रीतिकालीन कवि सूदन की शैली पर कवि ने वस्तुओं की सूची गिनानेवाली परम्परा को भी अपनाया है। इस शैली के द्वारा अपनी बहुज्ञता का परिचय देना ही मानों कवि को अभीष्ट रहा है। भोज्य-वस्तु, आभूषण, रत्न इत्यादि न जाने कितनी अनगिनत वस्तुओं की एक लम्बी सूची कवि ने प्रस्तुत की है। यह सूची हमारे मन में एक कौतूहल तो अवश्य उत्पन्न करती है, परन्तु इसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं होता :—

सांतीपुर मदरास नागपुर की कल धोती।
द्रविण पाटमय पाढ़ निपुनता की जनु सोती ॥

ढाके की मलमल सु डोरिया राधानगरी।
बिस्नुपूर मुरसिदाबाद पाटंबर पगरी ॥८७॥

—कलकाशी

*　*　*　*

ललित लायचा दरियाई च्योली पंजाबी।
तिब्बत के संबूर छाल रूणी संजाबी॥
साल दुसाले कलित कृपारामी कस्मीरी।
जिनके नेरैं जात सीत नहिं सिसिर समीरी॥६०॥

—वही

मुक्तकों में भी इन दोनों शैलियों का प्रयोग कवि ने सफलतापूर्वक किया है। समास शैली का प्रयोग मुक्तकों में विशेष वांछित है। जहाँ पर कवि दृश्य-चित्रण करता है वहाँ इस शैली की सफलता निश्चित होती है। वीराष्टकों में यह शैली सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई है। भीष्म के साथ युद्ध करते हुए कृष्ण-अर्जुन के एक क्षणिक कार्य-कलाप का चित्रण कवि ने बड़ी सफलतापूर्वक निम्न-लिखित छन्द में किया है—

छूट्यो अवसान मान सकल धनंजय को,
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं।
कहै 'रतनाकर' निहारि करुनाकर कैं,
आई कुटिलाई कछू भौंहनि कगर में।
रोकि झर रंचक अरोक बर बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसकाइ मंद स्वर मैं।
चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियो सारथ तौ,
बक्र करौ भृकुटी न, चक्र करौ कर मैं॥५॥

—भीष्मप्रतिज्ञा, वीराष्टक

जिन स्थलों में कवि वातावरण तथा सौन्दर्य का चित्रण करने लगता है, वहाँ पर मुक्तकों में भी वह व्यास-शैली का उपयोग करता है। एक-एक छन्द एक-एक भाव को विस्तृत रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। रत्नाष्टकों में अधिकांशतः उसी व्यास-शैली का उपयोग किया गया है। तुलसी की गुणा-वलि, द्रौपदी का करुणक्रन्दन अथवा ऋतुओं का व्यापक-प्रभाव अभिव्यक्त करने में कवि ने व्यास-शैली का प्रयोग ही प्रमुख रूप से किया है। दोहों में कहीं-कहीं समास शैली का सुन्दर उदाहरण दृष्टिगोचर होता है। स्वर्ग

और धतूरे के तुलना करते हुए कवि ने बड़ी संक्षिप्त शैली में धतूरे की श्रेष्ठता सिद्ध की है।

सुबरन-कनक प्रभाव तैं सुमन-कनक कौ बीस।
वह महीस कैं सीस यह चढ़त ईस कैं सीस ॥१८॥
—दोहावली

तात्पर्य यह कि रत्नाकर जी का प्राचीन पद्धति की समास और व्यास दोनों शैलियों पर समान अधिकार है। इन्होंने भाषा-सौष्ठव, शब्द-चयन तथा आलङ्कारिकता के द्वारा इन शैलियों में विशेष चमत्कार तथा प्रभावशालिता उत्पन्न कर दी है। इन शैलियों के समयानुकूल प्रयोग ने इन्हें और भी महत्व-पूर्ण बना दिया है।

कला, अलंकार,

अलङ्कारिकता की दृष्टि से रत्नाकर जी को रूपक विशेष प्रिय जान पड़ता है। वास्तव में अलङ्कार का प्रयोग विशेष रूप से भावाभिव्यंजना तथा भाव को स्थायित्व प्रदान करने के लिए होता है। जहाँ पर एक भाव को विशदता प्रदान करना अभीष्ट होता है वहाँ पर रूपक विशेष रूप से सफल होता है। मुक्त भावों में रूपक विशेष सफल होता है। प्रबन्ध-काव्य में छोटे-छोटे भावों के ग्रहण और त्याग के आधार पर कथा बढ़ती चलती है। अतः उत्प्रेक्षा जैसे अलङ्कार विशेष सफलता प्राप्त करते हैं। उद्धवशतक में कवि ने रूपकों का प्रयोग बड़ी सफलता तथा प्रचुरता के साथ किया है। अष्टकों में भी रूपक का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है। उद्धव द्वारा कृष्ण को दिया हुआ उपदेश इस प्रकार रूपक के द्वारा साकार किया गया है :—

हेत-खेत माहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की,
प्रेम-तृन गोपी राख्यो तापै गमनौ नहीं।
करिनी प्रतीति काज करनी बनावट की,
राखी ताहि हेरि हियैं हौंसनि सनौ नहीं॥
घात मैं लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबै,
इनके अनोखे छल छन्दनि छनौ नहीं।
बारन कितेक तुम्हैं बारन कितेक करैं,
बारन उधारन ह्वै बारन बनौ नहीं॥

उक्त छन्द में छलपूर्वक हाथी को लुब्ध करके पकड़ने की क्रिया के आधार पर कृष्ण को वैसे ही बन्धन में जा पड़ने से सचेत किया गया है और उसी

एक भावना को स्थायित्व प्रदान करने के प्रयत्न में कवि ने इस रूपक की सृष्टि की है।

षट्ऋतु वर्णन में कवि ने इस प्रकार के रूपक के सहारे बड़े विशद भाव का प्रदर्शन किया है। रूपक के साथ श्लेष की सहायता रत्नाकर जी ने विशेष रूप से ली है। वारिनि, माधव, घनश्याम, पदध्वनि, तरुनि इत्यादि शब्दावली के श्लिष्ट प्रयोग द्वारा इन्होंने अपने रूपकों में मार्मिक चमत्कार की सृष्टि की है।

कथा-प्रकरण के बीच दृश्य अथवा रूप-वर्णन के प्रसङ्ग में उत्प्रेक्षा का प्रयोग कवि के काव्य को सौंदर्य प्रदान करने में बहुत सहायक हुआ है। गङ्गावतरण (चतुर्थ-सर्ग) में भगवान् कृष्ण के राधा-संयुक्त रूप का वर्णन करते हुए कवि ने बड़ी मनोरमता के साथ इस अलङ्कार का प्रयोग किया है:—

नील-पीत अभिराम बसन द्युति-धाम धराए।
मनहु एक कौ रङ्ग एक निज अंग अँगाए॥
निज-निज रुचि अनुहार धरे दोउ दिव्य विभूषन।
जो तन-दुति की दमक पाइ चमकत ज्यौं पूषन॥२२॥
उर विलसत सुभ पारिजात के हार मनोहर,
सब लोकनि के फूल-गंध के मूल सुघर बर।
चारु चन्द्रिका मंजु मुकुट छहरत छबि छाए।
मनहु रतन तन तेज पाइ सिर बढ़ि इतराए॥२३॥
विपुल पुलक दुहुँ गात परसपर सरस परस के,
पीत नील मनि माहिं मनो अंकुर सुचि रस के॥
सुधि करि विविध विलास फुरति अँग-अँग फुरहरी।
मनु सुषमा कै सिन्धु उठति आनन्द की लहरी॥२४॥

स्पष्टतया देखा जा सकता है कि एक ही प्रवाह में कवि उत्प्रेक्षाओं की माला पिरोता चला जाता है और वे राधा-कृष्ण का सौंदर्य-वर्णन करने में अत्यन्त सफल होते हैं। उत्प्रेक्षा की यही कला सूरदास में भी दृष्टिगत होती है। अतिशयोक्ति का प्रयोग तो शृङ्गारयुगीन कवि करते ही रहे हैं और रत्नाकर जी भी उसके अपवाद नहीं थे, किंतु रत्नाकर जी ने यथासम्भव अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए संवेदनात्मकता को हाथ से नहीं जाने दिया है। अतिशयोक्ति के अन्तर्गत अत्यन्तातियोक्ति का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

'रमत रमा के संग आनन्द-उमंग भरे,
अंग परे थहरि मतङ्ग अवराधे पै।

कहै 'रतनाकर' बदन दुति औरै भई,
बूदैं छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पै।
धाए उठि बार न उबारन मैं लाई रञ्च,
चंचला हू चकित रही ह्वै वेग-साधे पै।
आवत वितुण्ड की पुकार मग आधैं मिली.
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज मग आधे पै ॥११॥

—गजेन्द्र-मोक्षाष्टक

निम्नलिखित छंद में कवि ने 'मुद्रा' अलंकार का प्रयोग किया है :—

आवत निहारे हौं गुपाल एक बाल जाको,
लाग्यौ उपमा मैं कबि कोविद समाज है।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय,
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है॥
संभु कुच मुख पदमाकर दिमाक देव,
नापै घनआनँद घनेरी कच-साज है॥
छवि की तरंग रतनाकर है अंग मुस-
कानि रस-खानि थानि आलम निवाज है॥ ॥

—शृंगार लहरी

उपर्युक्त छंद में नायिका के सौंदर्य-वर्णन के साथ ही साथ हिंदी के कुछ प्रमुख कवियों के नाम भी आ गये हैं। निम्नलिखित छंद में कवि ने विभावना, प्रतीप, सम, भ्रम इत्यादि अलंकारों का एक साथ समन्वय कर दिया है, यमक और अनुप्रास तो विद्यमान हैं ही—

"अंजन बिनाहूँ मन-रंजक निहारि इन्हैं,
गंजन ह्वै खंजन-गुमान लटे जात हैं।
कहै 'रतनाकर' बिलोकि इनकी त्यौं नोक,
पंचबान बाननि के पानी घटे जात हैं॥
स्वच्छ सुखमा की समता की हमता सौं खिले,
बिबिध सरोजनि सौं हौज पटे जात हैं।
रंग है री रंग तेरे नैननि सुरंग देखि,
भूलि भूलि चौकड़ी कुरंग कटे जात हैं॥२२॥

—शृङ्गार लहरी

गङ्गा के विभिन्न गुणों पर दृष्टिपात करते हुए कवि ने उल्लेख अलंकार द्वारा उसकी महिमा का वर्णन इस प्रकार किया है।

"त्रिधि बरदायक की सुकृति-समृद्धि-बृद्धि,
संभु सुर-नायक की सिद्धि की सुनाका है।
कहै रतनाकर त्रिलोक सोक नासन कौं,
अतुल त्रिविक्रम के विक्रम की साका है।
जम-भय-भारी-तम-तोम-निरवारन कौं.
गंग यह रावरी तरंग तुंग राका है।
सगर-कुमारनि के तारन की सेनी सुभ,
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है ॥१०॥
—गंगालहरी

इसी प्रकार पुण्य की शुभ्रता तथा उसके प्रसार और गुंजार की तुलना गंगा की शुभ्र छटा, उसकी धाराओं तथा उसके रवपूर्ण प्रवाह से करते हुए कवि ने गङ्गाजल में भगीरथ के सुपुण्य की उत्प्रेक्षा की है। सरिता के स्वाभाविक प्रवाह का सुन्दर वर्णन करते हुए अपने प्रकृति-प्रेम का भी परिचय दिया है। इसमें उसके सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय भी मिलता है—

"संभु की जटा तैं कढ़ि चन्द की छटा सी फैली,
हिम के पटा पै प्रभा-पुंजनि पसारै है।
कहै 'रतनाकर' सिमिट चहुँधा तैं पुनि,
छोटे-बड़े सोतनि के गोत लै ढरारै है॥
मिलि मिलि सोतनि तैं नारे बहु बेगि बनैं,
धार है अपार पुनि घोर रोर पारै है।
सगर-कुमारनि के तारन कौं धावा किए,
मानहु भगीरथ कौ पुन्य ललकारै है ॥८॥
—गंगालहरी

सन्देह, उल्लेख, विरोधाभास इत्यादि अलंकार रत्नाकर जी के प्रिय अलंकार हैं और उनका स्वाभाविक प्रयोग इनके काव्य में अपने आप उतरता चला आता है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और वीप्सा जैसे अलंकार उन्हें प्रिय हैं। वक्रोक्ति के द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन तो वे निरन्तर करते ही रहे हैं। इन अलङ्कारों के दो-एक उदाहरण इस प्रकार हैं।—

अनुप्रास

इस अलंकार का प्रयोग रत्नाकर जी के काव्य में पग-पग पर मिलता है। पद्माकर के समान इन्होंने इसका प्रचुर प्रयोग किया है और इसके कारण इनकी भाषा में संगठन और प्रवाह अपनी चरम सीमा तक देखे जा सकते हैं। गंगावतरण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

निज दरेर सौं पौन-पटल फारति फहरावति,
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति।
चली धार धुधकारि धरा-दिसि काटति कावा,
सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा ॥१६॥

—सप्तम सर्ग

अनुप्रास के प्रयोग द्वारा कवि ने चित्र को सजीवता प्रदान करने का प्रयत्न कि ा है। उद्धवशतक से एक उदाहरण उद्धृत है :—

"हौले से हले से हूल-हू से हिये मैं हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से।"

अनुप्रासमयी शब्दावली के द्वारा उद्धव की किंकर्तव्य-विमूढ़ता का चित्रण कवि ने सफलता के साथ किया है। उद्धव द्वारा कृष्ण को दिया हुआ उपदेश यमक के द्वारा चमत्कारपूर्ण बना दिया गया है :—

"बारनि कितेक तुम्हें बार‌न कितेक करै,
बारन उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं॥"

वीप्सा अलङ्कार हृद्गत भावनाओं को एक ही वाक्यांश की पुनरुक्ति द्वारा अभिव्यक्त करता है। गोपिकाओं के हृदय का औत्सुक्य उनकी जिज्ञासा को पुनरुक्ति द्वारा कवि ने सफलतापूर्वक व्यक्त किया है :—

"उझकि उझकि पदकंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लागीं।
हमकौ लिख्यौ है कहा, हमकौ लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं॥"

इस प्रकार की आलङ्कारिकता में इनका अपूर्व कौशल तथा कलाप्रेम लक्षित होता है।

रत्नाकर जी रस से अधिक अलङ्कार-शैली को अपनानेवाले हैं किन्तु जिस प्रकार से अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रमुख अनुयायी रस और अलङ्कार को एक-दूसरे का पोषक मानते हैं, इसी प्रकार रत्नाकर जी का उद्देश्य भी अलङ्कार की सहायता से रस को पुष्ट करना ही जान पड़ता है। वास्तव में—"अलङ्कार

का अलङ्कारत्व इसी में है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। यदि इस कार्य के करने में वह समर्थ नहीं होता तो वह अलङ्कार कविता-कामिनी के लिए भार-भूत ही होता है।"[१] रत्नाकर जी के काव्य में इसी सिद्धांत का पोषण निरंतर दिखाई देता है। इनका रस-परिपाक आलङ्कारिकता के ऊपर विशेष रूप से आश्रित दिखाई देता है। यहाँ पर हम रत्नाकर जी के काव्य के प्रमुख रसों पर संक्षेप में विचार करेंगे, यद्यपि मुक्तकों के रस-परिपाक के विषय में हम पहले कह चुके हैं।

रत्नाकर जी प्रमुख रूप से शृङ्गारी कवि हैं। शृङ्गार के मनोरम चित्र खींचने में उन्होंने पर्याप्त कला का परिचय दिया है। वास्तव में शृङ्गार के अंतर्गत उसके सम्पूर्ण अंग-उपांगों का वर्णन रत्नाकर जी ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। शृङ्गार के अलावा अनुभावों सहित कृष्ण का सरस चित्रण कवि ने बड़ी सफलता के साथ किया है।

काहू मिस आजु नंद-मंदिर गुबिंद आगैं,
लेतहि तिहारौ नाम धाम रसपूर कौ।
सुनि सकुचाइ लगे जदपि सराहन से,
देखि कला करत कपोल अति दूर कौ॥
मृगमद विंदु तऊ चटक दुचंद भयौ,
मंद भयौ खौर हरिचंदन कपूर कौ।
थहरन लागे कल कुण्डल कपोलनि पै,
छहरन लाग्यौ सीस मुकुट मयूर कौ॥२७॥

—शृङ्गार लहरी

राधा का नाम सुनकर कृष्ण के भाव-परिवर्तन, कम्प, तथा मुख की विवर्णता इत्यादि का वर्णन कवि ने बड़े ही ध्वन्यात्मक ढंग से किया है।

शृङ्गार की आश्रयीभूता राधा अथवा गोपिका का एक सजीव चित्र अपने शब्दों में कवि ने इस प्रकार खींचा है:—

भरि जीवन गागरी में इठलाइ कै, नागरी चेटक पारि गई।
रतनाकर आहट पाइ कछू, मुरि घूँघट टारि निहारि गई।
करि वार कटाच्छ कटारिनि सौं, मुसकानि मरीच पसारि गई।
भए घाय हिये मैं अघाय घने, तिनपै पुनी चाँदनी मारि गई॥१०१॥

—शृङ्गार लहरी

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १००, बलदेव उपाध्याय।

शब्दों के कलात्मक प्रयोग के द्वारा कवि ने अपने चित्रण को बड़ा ही प्रभावशाली तथा मार्मिक बना दिया है। जीवन, शब्द जल तथा प्राण दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। "चाँदनी मारि गई" वाक्यांश को मुहावरे के रूप में प्रयुक्त किया गया है। सम्पूर्ण वर्णन में चित्रात्मकता बहुत सजीव होकर उपस्थित हुई है।

उद्दीपन के रूप में मेघों के गर्जन की अनुकरणवाली शब्दावली का निर्माण करके कवि ने कविवर सूदन की शब्दावली का स्मरण दिला दिया है। कामदेव के नगाड़ों के समान मेघ-गर्जना का वर्णन कवि ने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में किया है। स्पष्ट है कि इस वर्णन में शब्द-चयन की कला ही प्रमुख है—

आए चहुँ ओर तैं घुमंडि घनघोर घेरि,
टक्करन लेत ज्यौं मतंग मतवारे हैं।
कहै 'रतनाकर' धराधर अकास धरा,
एकमेक ह्वै कै धूमधार रंग धारे हैं॥
कत्तड़ान कड़ान्न ढड़ान्न घेड़ेन्न घेङ्ङड़ान,
धधकतान धधकतान धधकतान वारे हैं।
मनसा-महान-बिस्व-बिजय-बिधान आनि,
बाजत ये मदन-महीप के नगारे हैं॥१५३॥

—शृङ्गारलहरी

ऋतु-वर्णन के अंतर्गत अनुस्वारयुक्त शब्दावली के द्वारा कवि ने एक मनोरम संगीतात्मकता उत्पन्न की है। हेमंत के विलासपूर्ण वातावरण का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मौज भरि साजन मनोज-सेज मौन लागीं,
आतुर तुराई की तुलाई होन लगी है।
कहै रतनाकर रंगीन चीर चोलनि की,
परदे अमोलनि की चोप चित पागी है॥
आवत हिंमत दूरि चंदन कपूर भए,
केसर कुरंग-सार माहिं रुचि रागी है।
सुमिरि अनंद केलि मंदिर कौ सुंदरीनि,
अमित अनंग की तरंग अंग जागी है॥१४७॥

—शृङ्गारलहरी

शृङ्गार का विषय रत्नाकर जी का अपना विषय है। उसका विस्तृत वर्णन करने के लिए पर्याप्त स्थान चाहिए। यहाँ पर हम केवल इतने परिचयमात्र से

ही संतोष करते हैं। वियोग श्रृङ्गार का एक संवेदनात्मक चित्रण देकर हम यहाँ संतोष करेंगे।

अंतक लौं बिरही जन कौं पुनि, वायु बसंत की दागन लागी।
कागनि के हित काग की पाली नए षटरागनि रागन लागी॥
कुंजनि गुंज मधुव्रत की विष के रस की रुचि-पागन लागी।
फूले पलास की आगनि सौं बनबाग दवाग सी लागन लागी॥ ११२॥

— श्रृङ्गारलहरी

नाद-व्यंजना

समालोचनादर्श में रत्नाकर जी की निम्नलिखित पंक्तियां अनूदित ही हैं :—

"एतौ ही नहिं इष्ट सदा कविता मैं, भाई,
पै कर्कसता सहृदय को न होहि सुखदाई,
परमावस्यक धर्म, बरन, यह सुमति प्रकासै,
कै रचना के शब्द अर्थ-प्रतिध्वनि से भासै।
चहियत कोमल बरन पवन जहँ मंद बहत वर,
सरिता सरल बाल बरनन हित छन्द सरलतर,
पै भैरव तरंग जहँ रोरित तट टकरावैं,
उत्कट, उद्धत बरन, प्रबल प्रवाह लौं आवैं।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियाँ रत्नाकर जी के काव्य में नादात्मक अनुकरण को बहुत कुछ स्पष्ट कर देती हैं। वातावरण के अनुकूल नाद-व्यंजना का संगठन रत्नाकर जी की विशेषता है। कविवर सूर, नन्ददास, विहारी, देव, घनानन्द आदि कवियों ने इस नाद-व्यंजना की रीति का पालन समय-समय पर किया है। नन्ददास की (इस कला में) इन कवियों से श्रेष्ठता मानी गई है। रासपंचाध्यायी में, रास, नृत्य का चित्रण कवि ने ऐसी भाषा में किया है जिसके द्वारा

"Tis not enough no harshness given offence,
The Sound must Seem an echo to the Sense—
Soft is the strain when Zephyr gently blown,
And the smooth in smoother nnmbers Flows—
But when Loud Surges lash the Sounding shore,
The hoarse, rough verse should like the torrent yoar."

सम्पूर्ण दृश्य सजीव हो उठा है। नृत्य के पूर्व वाद्य-यंत्रों की ध्वनि का झंकार-पूर्ण मोहक-वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदग उपंग चंग बीना ध्वनि जुरली॥ १३ ॥
मृदुल मुरज टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भंवर गुंजार रली पुनि॥ १४ ॥
मिलि जु भई इक अद्भुत धुनि तिहि सुनि मुनि मोहे।
सुर नर गन गन्धर्व कछु न जानत हम को हैं॥ १५ ॥[१]

इसी प्रकार नृत्य के अन्तर्गत ताल का आभास निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा बड़ी सफलता के साथ दिया गया है:—

कल किंकिन गुंजार तार सुर बीनाहू पुनि
मृदुल मुरज टंकार भंवर झंकार मिली धुनि॥ २९ ॥
पद पटकनि भू पटकनि चटकनि कठ तारन की।
गज-गति मुसकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥ ३० ॥[२]

रोला छन्द की प्रवाहमयी शैली तथा कलात्मक भावाभिव्यंजना नन्ददास की विशेषता है। रत्नाकर जी ने भी पोप के सिद्धान्त के अनुसार गङ्गावतरण में गंगा के प्रवाह का शब्द-चित्र बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण अष्टम-सर्ग इसी प्रकार के शब्दानुकरण से परिपूर्ण हैं। कहीं गंगा की शुभ्रता तथा प्रकाशमयी शोभा का वर्णन है, कहीं उसके प्रवाह का ओजपूर्ण चित्र है, कहीं पत्थरों के लुढ़कने का घोर रव सुनाई पड़ता है और कहीं पर उसकी धारा की घरघराहट, मरमराहट तथा धमक, प्रतिध्वनित शब्दों के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ:—

कहुँ ढाहे ढोकनि ढुकाइ निज गति अवरोधति,
पुनि ढकेलि ढुरकाइ तिन्हैं पकयौ मन सोधति॥
कबहुँ चलति कतराइ बक्र नव बाट काटि गहि।
कबहुँ पूरि जल-पूर कूर ऊपर उमंड़ि बहि॥२५॥
हरहराति हर हार सरिस घाटी सौं निकरति।
भव-भय-भेक अनेक एक संगहि सब निगरति॥

---

१. रासपंचध्यायी, अध्याय ५, नन्ददास,

२. „ „ „

अखिल हंस बर-बंस घेरि साँकर घर धारे।
भरभराइ इक संग कढ़त मनु खुलत किवारे ॥२८॥
कहुँ कोउ गह्वर गुहा माँहिं बहरति घुसि घूमति।
प्रबल बेग सौं धमकि धूँसि दसहूँ दिसि दूमति॥
कढ़ति फोरि इक ओर घोर धुनि प्रतिधुनि पूरति।
मानहु उड़ति मुरग गूढ़ गिरि-सृङ्गनि चूरति॥२९॥

—अष्टम-सर्ग

गङ्गावतरण के इस ओजपूर्ण वातावरण के आसपास कवि ने प्रकृति का शांत, मृदुल तथा मनोरम रूप भी चित्रित किया है। वसन्त का नादात्मक-वातावरण कोमल-वर्णों के द्वारा तथा भ्रमर-गुञ्जार के अनुरूप अनुनासिक ध्वनियों की सहायता से कवि ने बड़ी सफलतापूर्वक चित्रित किया है :—

"बर बल्लिनि के कुञ्ज-पुञ्ज कुसुमित कहुँ सोहैं।
गुंजत मत्त मलिन्द-वृन्द तिन पर मन मोहैं॥
मनौ सुहागिनि सजे अंग बहुरंग दुकूलनि।
गावतिं मंगल मोद-भरीं छाजे सिर फूलनि॥

— गंगावतरण, दशम-सर्ग

*　　　*　　　*　　　*

नाचत मंजुल मोर भौंर साजत सारंगी।
करति कोकिला गान तान तानति बहुरंगी॥
श्यामा सीटी देति चटक चुटकी चुटकावत।
घूँम भूमि भुकि कल-कपोत तबला गुटकावत॥१४॥

—गंगावतरण दशम-सर्ग

अंतिम पंक्तियों में पक्षियों की नाद-ध्वनि शब्दावली के द्वारा, कवि ने सजीव रूप में उपस्थित कर दी है। वातावरण की गम्भीरता का चित्रण भी कवि ने नादात्मक शब्दावली के द्वारा बड़ी सफलता के साथ किया है। अश्व के पर्व-दिन पर चोरी चले जाने से जिस गम्भीर तथा अनिष्टसूचक वातावरण की उत्पत्ति यज्ञशाला में होती है, द, ध, म आदि गम्भीर तथा महाप्राण-ध्वनियों के द्वारा उसका सफल चित्रण किया गया है :—

उपाध्याय गन धाइ धवल आनन लटकाए।
त्रिकुटी ऊँचै सशंक बंक भृकुटी भभराए॥

भरि गभीर स्वर भाव भूप सौं कियौ निवेदन।
गयो पर्व-दिन अस्व भयौ भारी हित-छेदन ॥३१॥

—प्रथम-सर्ग

ओजपूर्ण चित्रणों के लिए रत्नाकर जी ने परम्परागत नाद-व्यञ्जना का आधार भी ग्रहण किया है। जिस प्रकार चारण काल के कवि द्वित्व तथा संयुक्ताक्षरों की सहायता से परुष-भावों की अभिव्यञ्जना किया करते थे, अपने मुक्तकों में रत्नाकर जी ने भी उक्त शैली का प्रयोग किया है। भीष्म के ऊपर सुदर्शन चक्र का प्रहार करने के लिए कृष्ण उद्यत होते हैं और चक्र पर एक बंकिम दृष्टि डालते हैं। उसके प्रभाव का चित्र निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत हुआ है :—

बक्र भृकुटी कै चक्र ओर चप फेरत ही,
सक्र भये अक्र उर थामि थहरत हैं।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं।
कोल कच्छ कुञ्जर कहलि हलि काढ़ैं खास,
फननि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं।
मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीड़ि,
उद्रित समुद्र अद्रि भद्र भहरत हैं॥

—वीराष्टक-भीष्म-प्रतिज्ञा, छंद ६

शब्दावली के द्वारा इस प्रकार भाव-व्यञ्जना करना कवि के असीम भाषाधिकार को प्रकट करता है। रत्नाकर जी के पूर्व बहुत कम कवि इस प्रकार की भाव-व्यञ्जना कर सके थे, ऐसा कहने में कोई अनौचित्य नहीं है। वास्तव में वाणी उनके अधिकार में थी और वे उसे इच्छानुसार घुमाने-फिराने में समर्थ थे। यह अधिकार पर्याप्त-साधना के द्वारा ही प्राप्त होता है और इस दिशा में रत्नाकर जी की साधना-पूर्ण थी, इसमें सन्देह नहीं।

———

भाषा और छन्द

कवि की भाषा, उसके भावों की अभिव्यक्ति का साधन है। भावों की अभिव्यक्ति की आकांक्षा कितनी गहरी होती है, इसे केवल कवि ही समझ सकता है और कवि निरन्तर इस बात का प्रयास करता है कि वह अपनी अनुभूतियों का यथारूप वर्णन कर सके। इन वर्णनों को प्रभावशाली तथा मर्मस्पर्शी बनाने के लिए उसे सशक्त भाषा की आवश्यकता होती है, जिसके बिना उसका कवि-कर्म असफल रह जाता है। अतएव यह समझा जा सकता है कि भाषा का कवि के लिए कितना अधिक महत्व है। रत्नाकर जी का काव्य कला-प्रधान है और कला प्रधान के लिए भाषा-सौष्ठव से बढ़-कर दूसरा कोई तत्व नहीं हो सकता। रत्नाकर जी की भाषा में वह सौष्ठव विद्यमान है जो पाठक के मन को मुग्ध करता है, बुद्धि को उत्तेजना देता हैं और हृदय को छू लेता है।

रत्नाकर जी की भाषा पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक तो इसकी अभिव्यञ्जना शक्ति और दूसरे इसका आदर्श। अभिव्यञ्जना-शक्ति पर विचार करने के लिए भाषा में लाक्षणिकता, आलङ्कारिकता तथा शब्द-चयन की ओर दृष्टि डाली जा सकती है। लक्षणिक भाषा जिस ध्वन्यात्मकता को लेकर उपस्थित होती है वह वचन-वक्रता के कारण हृदय पर शीघ्र हो प्रभाव डालती है। लक्षणा में सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यञ्जना के लिए स्थूल अनुभूतियों का माध्यम ग्रहण किया जाता है। मधुर वचन, सीधी बात, कठोरवाणी इत्यादि वाक्यांशों में मधुरता, सीधापन अथवा कठोरता का अनु भव हमें स्पर्श से होता है। किन्तु वचन इत्यादि के मर्मस्पर्शी प्रभाव को व्यक्त करने के लिए और उस सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यञ्जना के लिए इस स्थूल उपमान को ग्रहण किया गया है। रत्नाकर जी ने इस प्रकार की लक्षणा का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है :—

"कौरव के दाप ताप पाण्डव के जात बहे,
पानी माँहि पारथ-सपूत की कृपानी के।"

दर्प और ताप का पार्थपुत्र अभिमन्यु की कृपाण के पानी में बहना बड़ा ही मनोरम लाक्षणिक प्रयोग है। कवि का तात्पर्य यह है कि अभिमन्यु की तलवार की धार सब शत्रुओं का मान भङ्ग कर रही है। इस प्रकार के अनगिनत प्रयोग रत्नाकर जी ने, किए हैं। उद्धवशतक में चमत्कार-सिद्धि बहुत कुछ लाक्षणिकता के द्वारा ही हुई है। कवि ने केवल वाणी ही में नहीं वरन् संकेतों में भी लाक्षणिकता का प्रयोग किया है। गोपिकाएँ कहती हैं :—

औसर मिलै और सर-ताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ॥

अथवा

नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस,
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ॥

इत्यादि उद्धरणों में संकेत तथा इने-गिने शब्दों के द्वारा गोपिकाओं के मनोभावों का सजीव चित्रण कवि ने कर दिखाया है।

किसी एक शब्द मात्र में सम्पूर्ण भावना को भर देना रत्नाकर जी की कला की विशेषता है :—

"सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस,
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जायगौ॥६२॥

१, मोर पंखिया कौं मोर-वारौ चारु चाहन कौं,
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर पँखियाँ चहैं॥

२, ऊधौ ब्रह्म ज्ञान कौ बखान करते न नेंकु,
देखि लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं॥

उपर्युक्त उद्धरण में 'कन्हैया' शब्द के द्वारा अपने प्रेम की आत्मीयता का निर्देश गोपिकाओं ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। 'मोर पँखिया' शब्द नेत्रों की चेतनाहीनता की ओर निर्देश करता है और 'हमारी अँखियान' का तात्पर्य अनुराग से पूर्ण नेत्रों से है। इस प्रकार की लाक्षणिकता रत्नाकर जी के काव्य को मार्मिक, चमत्कारपूर्ण तथा आकर्षक बना देती है। लक्षणा के अन्तर्गत ही मुहाविरों का प्रयोग भी किया जा सकता है। सूर के समान रत्नाकर जी का मुहाविरों का प्रयोग बड़ा ही मार्मिक तथा प्रभावशाली बन पड़ा है।

'रोकत सांसु री पांसुरी में यह बांसुरी मोहन के मुख लागी', में बांसुरी का 'मुँह लगी' होना बहुप्रचलित मुहाविरा है। महारानी दुर्गावती की वीरता

के स मुख आरफखों की विह्वलता का वर्णन बड़े ही लाक्षणिक ढंग से कवि ने किया है :—

'पानी सब मुख को, उतरि हिय पानी भयो,
पानी गयो रोज कौ बिलाइ दृग पानी है ॥

इस प्रकार लाक्षणिकता की दृष्टि से रत्नाकर जी की भाषा बहुत कुछ प्रौढ़ है। इनकी भाषा पर सूर, बिहारी और पद्माकर जैसे भाषाधिकारी कवियों की छाप स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ती है। अलङ्कार तो रत्नाकर जी के काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। उनकी प्रथम दृष्टि आलङ्कारिकता पर ही पड़ती है। अलङ्कार का विस्तृत विवरण कला के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अतः इस विषय पर पुन; कुछ कहना पुनरुक्ति ही होगी।

इनके अतिरिक्त रत्नाकर जी के काव्य में कुछ सूक्तियों, लोकोक्तियों इत्यादि के भी दर्शन होते हैं। इन्होंने अपने काव्य को बलपूर्वक लाए हुए अलङ्कारों का अजायबघर बनाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उसमें अलङ्कार स्वभावतः आए हैं, जिनके कारण वे भावों का उत्कर्ष के साथ सफल चित्रण करने में समर्थ हुए हैं।

भाषा का सौन्दर्य तथा उसकी प्रभावशालिता बहुत कुछ शब्द-चयन पर आश्रित रहती है। जिस कवि का शब्द-भंडार जितना ही अधिक व्यापक है वह उतना ही अधिक सफल कहा जा सकता है। कवि की सफलता इसी में है कि वह छोटे से छोटे भाव को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र शब्दों का उपयोग करे। ये शब्द तत्सम, तद्भव, देशज अथवा विदेशी वर्ग से ग्रहण किये जाते हैं और इनका प्रयोग रसों के अनुकूल परुष अथवा कोमल शैली का निर्माण करने के लिए होता है।

रत्नाकर जी ब्रजभाषा के कवि थे। इनके सम्मुख सूर से लेकर पद्माकर तक की भाषा का क्रमिक विकसित रूप विद्यमान था। सूर का प्रान्तीय सौन्दर्य, घनानन्द द्वारा टकसाली शब्दों का प्रयोग, रसखानि का माधुर्य और पद्माकर की कलात्मकता सभी आदर्श रत्नाकर जी के सम्मुख थे और इन्होंने सबका लाभ भी उठाया है। इनके काव्य में भाषा की प्रान्तीयता तथा साहित्यिक दोनों विद्यमान हैं। रत्नाकर जी अधिकतर अवध प्रान्त में ही रहे। काशी में भी पूर्वी भाषा ही बोली जाती है। ब्रजभाषा का प्रयोग इन्होंने केवल काव्यगत परम्परा से पाया था, अतएव इनकी भाषा में अवधी अथवा पूरबी शब्दों के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। एक चलती हुई भाषा का

आदर्श रूप उपस्थित करने के प्रयास में इन्होंने उन सब प्रचलित शब्दों को अपना लिया है जो विदेशी भाषाओं से आ गए हैं अथवा जो केवल ग्रामीण भाषाओं में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार इन्होंने अपनी भाषा को एक साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। इनके कथात्मक अथवा वर्णनात्मक काव्यों में तत्सम शब्दावली का प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है, किन्तु सफलता से तद्भव और तत्सम शब्दों के मिश्रण से इन्होंने शुद्धता और सरसता का बड़ा सुन्दर मिश्रण किया है। उदाहरणार्थः—

"उमग्यौ शोक समुद्र भइ विप्लुत मखशाला,
बड़वागिनि-सी लगन लगी जग्यागिन ज्वाला।"

अथवा

जो ब्रह्मांड निकाय मांहि सुषमा सुघराई,
द्वै दल ताके वरण बीज के शुभ सुखदाई॥

उक्त उदाहरणों में कुछ शब्द पूर्णतया तत्सम हैं और कुछ थोड़ा-सा विकृत करके तद्भव बना दिए गए हैं।

कुछ लोक प्रचलित शब्दावली का प्रयोग भी रत्नाकर जी में मिलता है।

१. गोपिन को आवत न भावत भड़ंग है।

२. कहै रतनाकर करत टाँय-टाँय वृथा।

३. ऐहै कछु कामहु न लंगर लगार लै।

४. तन मन कीन्हें विरहागि के तबेला हैं।

५. सांठनि के सांठनि के भारत झमेला है। इत्यादि

यह स्पष्ट है कि इन शब्दों के प्रयोग से काव्य में स्वाभाविकता और सौंदर्य की वृद्धि होती है। ओज, प्रसाद और मधुरता भाषा के प्रमुख गुण हैं। ओज गुण का उदय तब होता है जब वाक्यों में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है। समासयुक्त पदावली का प्रयोग वीररसात्मक अथवा वर्णन-शैली की उदात्तता से युक्त काव्य में विशेष रूप से होता है। अष्टकों में रत्नाकर जी ने ओजगुण का बड़ा सुन्दर संगठन किया है। 'द्रौपदी-अष्टक' के निम्नलिखित छंद में परुष शब्दावली तथा द्वित्ववर्णों की सहायता से कवि ने ओज का अच्छा परिपाक किया है:—

दीम द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौंहीं,
तंत्र बिन आई मनतंत्र बिजुरीनि पै।
कहै रतनाकर त्यौं कान्ह की कृपा की कानि,
आनि लसी चातुरी-विहीन आतुरीनि पै॥

अंग पर्‍यो थहरि लहरि दृग रंग पर्‍यौ,
तंग परयो बसन सुरंग पँसुरीनि पै।
पांचजन्य चूमन हुमसि होंठ वक्र लाग्यौ,
चक्र लाग्यो घूमन उमगि अँगुरीनि पै ॥

किन्तु रत्नाकर जी को विशेषतः ओजगुण उत्पन्न करने के लिए इस समास-युक्त पदावली की ही आवश्यकता नहीं पड़ा करती, यमक के द्वारा भी वह ओज का अच्छा संगठन करते हैं :—

द्रुपद महीपति की पंचपति हूँ की हाय,
पंच पतिहूँ के हूँ पति की पति जाइगी।

गंगावतरण में भगवान् शंकर की शोभा का वर्णन करते हुए कवि ने ओजगुण की सिद्धि की है :—

हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि-छटा भाल पर,
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर।
फनि-पति-हार-विहार-भूमि वच्छस्थल राजै,
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छबि छाजै ॥३२॥

(षष्ठ सर्ग)

रत्नाकर का काव्य प्रसादगुण से परिपूर्ण है, यद्यपि स्थान-स्थान पर पौराणिक संदर्भ इत्यादि से उनका काव्य परिपूर्ण है, जो कि उनके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है, परंतु ऐसे संदर्भों का उपयोग प्रायः नहीं किया गया है, जिनके कारण काव्य में दुरूहता आ जाय। उद्धवशतक के कुछ ऐसे छन्द हैं जो किसी व्यवसाय विशेष से संबंध रखने के कारण कुछ एकदेशीय हो गए हैं, जिसके कारण उनमें कुछ दुरूहता आ गई है, अन्यथा उनकी शब्दावली सरल तथा लाक्षणिक होते हुए भी स्पष्ट है। उदाहरण—

अंड लौं टिटेहरी के जैहे जू बिवेक बहि,
फेरि लहिब की ताके तनक न राह है।
यह वह सिन्धु नाहीं सोखि जो अगस्त लियौ,
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम को प्रहाव है ॥६७॥

उक्त पंक्तियों में महाभारत की उस विख्यात कथा का उल्लेख है जिसमें सागर के द्वारा एक पक्षी के अण्डे बहा दिए गए थे, और जिसकी सहायता करने के लिए अगस्त ऋषि ने सम्पूर्ण सागर का पान कर लिया था। यह कथा इतनी विख्यात है कि संदर्भ के समझने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

माधुर्य का अर्थ है, "रसयुक्तता, रस से सम्पन्नता, यह शब्दगत तथा अर्थगत होने से दो प्रकार का होता है।"[1] शब्दगत माधुर्य के उदाहरण तो रत्नाकरजी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। अनुप्रास के प्रचुर प्रयोग द्वारा इन्होंने अपने काव्य को पर्याप्त माधुर्य प्रदान किया है। निम्नलिखित छंद शब्दगत माधुर्य का सुन्दर उदाहरण है—

रंग रूप-रहित लखात सबही हैं हमें,
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहै रतनाकर जरी हैं बिरहानल में,
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा॥४६॥

—उद्धवशतक

शब्द तथा अर्थ दोनों का माधुर्य उक्त छंद में बड़ी सफलता के साथ उपस्थित किया गया है। अर्थगत माधुर्य के दर्शन भी रत्नाकर के काव्य में प्रचुरता के साथ पाए जाते हैं, क्योंकि इन्होंने गंगावतरण और उद्धवशतक जैसे, भारतीय संस्कृति को चित्रित करनेवाले काव्य लिखे हैं। गंगा के सम्मुख करबद्ध प्रार्थना करनेवाली और यशोगान करनेवाली भारत-रमणियों का वर्णन कवि ने बड़े ही प्रभावशाली तथा माधुर्य उत्पन्न करनेवाले वातावरण में किया है :—

माँगति अचल सुहाग मंजु अंजलि कोउ धारे,
कलप-लता मनु चहति परम-फल पानि पसारे।
इहिं बिधि बिबिध विधान ठानि विधिवत सब पूजतिं,
मंगल-गीत पुनीत प्रीति-संजुत कल कूजतिं॥२३॥

(एकादश सर्ग)

जहाँ रत्नाकर जी ने एक ओर भाषा को सम्पूर्ण काव्यगत सौन्दर्य से संयुक्त करने का प्रयत्न किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने उसका संस्कार करने का भी प्रयास किया है। रत्नाकर जी ने अपने युग में प्रचलित साहित्यिक व्रजभाषा का प्रयोग तो अवश्य किया परन्तु इन्होंने विभक्ति-चिन्हों में कुछ

---

१. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० १५५, बलदेव उपाध्याय।

प्रान्तीयता उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया। कौं, सौं, मैं, मैं इत्यादिवि भक्ति-चिन्ह भाषा के स्वरूप को प्रान्तीयता की ओर झुकाने वाले हैं। किन्तु रत्नाकर जी के कुछ प्रयोग पूर्ण रूप से उचित नहीं कहे जा सकते; 'ए' के स्थान पर 'ऐ' का अथवा; 'ओ' के स्थान पर 'औ' का प्रयोग मिलता तो है किंतु उसके आधार पर भाषा-संबंधी कोई निश्चित सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता। 'सोई अब आंसू ह्वै गिरिबो करैं' में 'गिरिबौ' का दूसरा रूप' गिरिबो' भी प्रयुक्त होता है और प्रचलित भी है। इसी प्रकार 'सो' के स्थान पर 'सौ' और 'ए' के स्थान पर 'ऐ' का भी प्रयोग किया जा सकता है। अतः इस प्रकार के सिद्धांत न तो बहुत वैज्ञानिक प्रमाणित हुए और न लोकप्रिय हो सके। इसी प्रकार 'कहै रतनाकर न बूझिहैं बुझाएँ हम' में 'बुझाएँ' का प्रयोग करण कारक में हुआ है और इसका ऐतिहासिक महत्व है। संस्कृत की विभक्ति 'एन' का यह अवशेष है। किंतु वैज्ञानिक होते हुए भी ऐसे प्रयोग प्रचार न पा सके, क्योंकि साहित्यिक ब्रजभाषा का स्वरूप स्थिर हो चुका था, और उसमें काव्य-रचना रत्नाकर जी के उपरांत नहीं के बराबर हुई है। अतः प्रचार के लिए अवसर भी नहीं था। रत्नाकर जी व्याकरण के ज्ञाता थे और उन्होंने यथासाध्य भाषा का संस्कार करने का प्रयत्न किया। उनका प्रयत्न प्रशंसनीय ही कहा जायगा।

संक्षेप में रत्नाकर जी की भाषा सब प्रकार से साहित्य-रचना के अनुकूल है। उसमें सूक्ष्म-अभिव्यंजना शक्ति, कलात्मकता, संगठन तथा प्रवाह एक साथ विद्यमान हैं। सम्पूर्ण युग की प्रवृत्तियों का एक साथ समन्वय उनकी भाषा में दृष्टिगत होता है।

छंद

छंद-काव्य की विशेष प्रवृत्ति का सूचक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "भाषा छंद के मनोभाव की सूचना देती है, क्योंकि जब-जब अन्य जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है, तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती हैं। तभी आधार परम्परा का प्रचलन होता है। नये काव्य रूपों की उद्भावना होती है और नये छंदों में जनचित्त मुखर हो उठता है।।"[१] रत्नाकर जी ने काव्य के लिए दो प्रमुख छंदों को स्वीकार किया है, रोला तथा घनाक्षरी। इनके अतिरिक्त छप्पय तथा सवैया तथा कुछ दोहों का प्रयोग भी इन्होंने किया किंतु जो व्यापकता तथा सफलता इन्हें रोला तथा घनाक्षरी में मिली वह अन्य छंदों में नहीं। रोला छंद अपभ्रंश काव्यों में सफलता के साथ प्रयुक्त

१. हिंदी साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०.

हुआ है। ओजगुण का प्रदर्शन इस छंद के द्वारा बड़ी सफलता के साथ किया जा सकता है। इसी के साथ-साथ इस छंद का प्रवाह इसको कथात्मक काव्य के लिए उपयुक्त प्रमाणित करता है। 'हिंडोला', 'हरिश्चन्द', 'कल-काशी' तथा गङ्गावतरण काव्य रत्नाकर जी ने इस छंद में रचे हैं। इन काव्यों का प्रवाह, रसात्मकता तथा प्रभावशालिता बहुत कुछ स्पष्ट ही है। शृङ्गार वीर तथा करुण रसों की बड़ी सफल अभिव्यजना कवि ने इसी एक छंद के द्वारा कर दी है। करुण का परिपाक हरिश्चन्द काव्य में बड़ी सफलता के साथ हुआ है। शैव्या-विलाप इसका बड़ा ही सजीव उदाहरण है:—

हाय हमारौ लाल लियौ इमि लूटि विधाता।
अब काकौ मुख जोहि मोहि जीवै यह माता॥
पति त्यागैं हूँ रहे प्रान तब छोह सहारे।
सो तुमहूँ अब हाय बिपति मैं छाँड़ि सिधारे॥४४॥
अबहिं साँझ लौं तौ तुम रहे भली विधि खेलत।
औचकहीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत॥
हाय न बोल बहुरि इतोही उत्तर दीन्ह्यौ।
फूल लेत गुरु हेत साँप हमकौं डसि लीन्ह्यौ॥४५॥

—चौथा सर्ग

शृङ्गार का वर्णन हिंडोल-काव्य में रूप-चित्रण तथा दृश्य-चित्रण दोनों ही क्षेत्रों में सफलता के साथ हुआ है। दृश्य-चित्रण का उदाहरण 'हिंडोला' काव्य के आरम्भ में ही देखा जा सकता है। वर्षा-ऋतु का बड़ा ही सूक्ष्म तथा प्रभावशाली वर्णन कवि ने प्रयुक्त किया है। उदाहरण दृष्टव्य है :—

"चहुँ दिसि ते घन घोरि घोरि नभ मण्डल छाए,
घूमत, झूमत, झुकति औनि अतिसय नियराए।
दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि दौर ते, लहरैं,
छूटि छबीली छटा-छोर छिन छिन छिति छहरैं॥१३॥

रूप-चित्रण के अनेक चित्र बड़ी कलात्मक शैली में कवि ने चित्रित किए हैं। निम्नलिखित छंदों में उनके रूप-चित्रण की कला में पहुँच होने का दिग्दर्शन पूर्ण रूप से विद्यमान मिलता है।

पीत - नील - पाथोज - बरन मन-हरन सुहाए,
कोमल अमल अमोल गोल गातनि छबि छाए।
तरुन-अरुन-बारिज बिसाल लोचन अनियारे,
रंग रूप जोबन अनूप कैं मद-मतवारे॥३७॥

भाय भेद-भरपूर चारु चितवनि अति चंचल,
वरुनी सघन कोर-कज्जल-जुत लसत दृगंचल ॥
भृकुटी कुटिल कमान सान सौं परसति काननि,
नैकु मटकि मुरि मूकभाव के बरसति बाननि ॥३८॥

वर्णनात्मक शैली में तथ्य कथन करने के लिए रोला का प्रयोग कवि ने सफलतापूर्वक किया है। इसका उदाहरण रत्नाकर जी ने समालोचनादर्श में अपने अनुवाद द्वारा प्रस्तुत किया है। काव्यलोचन के आदर्शों का वर्णन करते हुए बड़ी प्रवाहपूर्ण शैली में इस काव्य में आलोचना-सिद्धान्त दिए गए हैं।

छप्पय का प्रयोग रत्नाकर जी ने अधिक नहीं किया है। किन्तु यत्र-तत्र उनका प्रयोग इनकी रोला-प्रियता के ऊपर ही आश्रित है। रोला के प्रति इनका आग्रह इन्हें छप्पय छंद के प्रयोग की ओर भी प्रेरित कर देता है। गंगावतरण के प्रत्येक अध्याय का अन्तिम छन्द उल्लाला है और इसके पूर्व के रोला से मिलकर वह एक छप्पय का निर्माण करता है। मुक्तकों में भारत सम्बन्धी दो छप्पय रत्नाकर जी ने लिखे हैं।

रत्नाकर जी का प्रमुख छंद घनाक्षरी है। इस छंद के विषय में आचार्य-हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कथन है' 'कवित्त, सवैया की प्रथा कब चली, यह कहना भी कठिन है। यह ब्रजभाषा के अपने छन्द हैं। सवैया का सधान तो कदाचित् संस्कृत वृत्तों में मिल भी जाता है, पर कवित्त कुछ अचानक ही आ धमकता है।" यद्यपि चंद के यश वर्णन करने वाले कुछ छन्द ब्रजभाषा के शिवसिंह-सरोज में मिलते हैं किन्तु यह छन्द बाद के लिखे हुए जान पड़ते हैं। आचार्य जी के अनुसार घनाक्षरी और सवैया "मूलतः बन्दीजन के छन्द हैं। सम्भवतः उसी परम्परा में इसका मूल भी मिले।"[१]

वास्तव में गोस्वामी तुलसीदास के समय से घनाक्षरी छंद का प्रचुर प्रयोग मिलने लगता है। कवितावली में इस छंद का बहुत ही निखरा और मजा हुआ रूप दृष्टिगत होता है। रीतिकाल तो इस छंद की प्रमुखता का युग है। रत्नाकर जी ने भी इस छंद को उसी परम्परा से प्राप्त किया है और इस पर इनका पूर्ण अधिकार है। प्रधानतया अपनी मुक्तक रचनाओं के लिए इन्होंने इसी छंद का प्रयोग किया है। उद्धवशतक जैसे प्रबन्ध-मुक्तक में भी इसी छन्द को अपनाया गया है।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल, ले० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

विचार-प्रधान अथवा इतिवृत्तात्मक मुक्तकों की रचना के लिए घनाक्षरी छंद बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। रत्नाकर जी के अष्टकों में इस छंद की सफलता का यही कारण है कि वर्णनात्मक शैली पर लिखे गए काव्य इस छंद में बहुत फबते हैं। ओज इस छंद का विशेष गुण है और वीरत्व अथवा तर्क-प्रधानता को लेकर रचे गए काव्यों को लेकर यह छंद बहुत सफल होता है। अष्टकों के विषय विशेषतया वीर रसात्मक हैं। वाग्विदग्धता का अंकन भी इस छंद में विशेष सफलता के साथ होता है। उद्धवशतक में इस छंद की सफलता का यही कारण है। समस्यापूर्ति रीतिकाल की विशेषता थी। रत्नाकर जी निरंतर समस्यापूर्तियाँ किया करते थे। इस कला ने भी इन्हें इस छन्द पर अधिकार प्रदान कर दिया। शृङ्गार-लहरी तथा प्रकीर्ण-पदावली में इस प्रकार की समस्यापूर्तियों के उदाहरण विद्यमान हैं। रत्नाकर जी का इस छंद पर असीम अधिकार है। कविवर देव, घनानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि कवियों से वे अधिक प्रभावित रहे हैं और इन सब की शैली इनके घनाक्षरी छंद में विद्यमान है। वास्तव में इस छंद में इनकी काव्य साधना साकार दृष्टिगोचर होती है।

सवैया और दोहा दो छन्द और हैं जिनका थोड़ा-बहुत उपयोग रत्नाकर जी ने किया है, किन्तु इन शब्दों में रत्नाकर जी की वृत्ति ऐसी नहीं रमी जैसी घनाक्षरी में और इसलिए रत्नाकर जी का प्रमुख छन्द घनाक्षरी ही कहा जाना चाहिये।

विचार-धारा

विचार-धारा

रत्नाकर जी के काव्य में कृष्ण को हम आलम्बन रूप में पाते हैं। इनके काव्य का क्षेत्र स्पष्ट ही लौकिक तथा अलौकिक दोनों पक्षों में मिलता है। लौकिक पक्ष के पीछे शृङ्गारयुगीन साहित्य की परम्परा है और आध्यात्मिक पक्ष के पीछे श्रीमद्भागवत से चली आती हुई दार्शनिक परम्परा। इस पक्ष का प्रस्फुटन सबसे अधिक उद्धवशतक में हुआ है, यद्यपि अपने हिंडोला-काव्य में भी रत्नाकर जी ने कृष्ण के अलौकिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण किया था। हिंडोला में कवि ने वल्लभीय सिद्धान्तों के अनुसार शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का चित्रण किया है। उनके कृष्ण सोलहों कलाओं से युक्त हैं, परब्रह्म के साकार रूप हैं, राधा उनकी आनन्दमयी शक्ति है। वृन्दावन गोलोक है और गोप ग्वाल इत्यादि वे जीवात्माएँ हैं जो अपनी आत्मार्पण बुद्धि के कारण भगवान् की आनन्दमयी लीला में भाग लेने की अधिकारिणी हो सकी हैं। शृङ्गारमूर्ति भगवान् कृष्ण की आनन्दमयी अनन्त लीला गोलोक में निरन्तर चलती रहती है। उसमें भाग लेने का अधिकार केवल भगवान् कृष्ण से ही प्राप्त होता है। रत्नाकर जी ने इन शृङ्गार मूर्ति कृष्ण का चित्रण करते हुए उनके अनेक लीला-विलासों का अङ्कन किया है। इस कारण चित्रण का आधार लौकिकता का संस्पर्श भी नहीं छोड़ सका। परन्तु हिंडोला में कवि की आध्यात्मिक वृत्ति बहुत कुछ स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख आती है। हिंडोला के मङ्गलाचरण में तथा कृष्णाष्टक में इस आध्यात्मिकता का आभास बड़ी स्पष्टता के साथ मिलता है :—

जाकी एक बूँद को विरञ्चि विबुधेस सेस,
सारद, महेस ह्वै पपीहा तरसत हैं।
कहै 'रतनाकर' रुचिर रुचि ही मैं जाकी,
मुनि-मन-मोर मंजु मोद सरसत हैं।
लहलही होति उर आनँद-लवंगलता,
जासौं दुख-दुसह जवासे झरसत हैं।

कामिनी-सुदामिनी समेत घनस्याम सोई,
सुरस-समूह ब्रज-बीच बरसत हैं ॥
निज-चातक जाकौं लहत, होत सपूरन-काम।
कृपाबारि बरसत बिमल, जै जै श्रीघनस्याम ॥

हिंडोला में यदि सैद्धांतिक भावुकता है तो उद्धव-शतक में व्यावहारिक तर्क का उपयोग किया गया है। 'हिंडोला' में कृष्ण की परब्रह्मता में किसी प्रकार की द्विविधा उत्पन्न नहीं होती। उद्धव-शतक में निर्गुण और सगुण के विभेद को लेकर निर्गुण और सगुण में श्रेष्ठता का निश्चय करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। निर्गुण मार्ग ज्ञान मार्ग है, उसको प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की कठोर साधनाओं की आवश्यकता पड़ती है। कुण्डलिनी को जागृत करके उसे क्रमशः पिंगला और सुषुम्न के मध्य-स्थित विभिन्न कमलों के बीच से उठता हुआ सहस्त्रार-शतदल कमल-ब्रह्माण्ड तक पहुँचाता है। इसके लिए उसे सभी लौकिक मार्गों का परित्याग करके पूर्ण निष्काम भाव से ब्रह्म का ध्यान करना पड़ता है। त्रिकुटी पर दृष्टि जमाकर निरन्तर वृत्तियों को एकाग्र किए हुए वह बाह्यशून्य होकर हृदय में निर्गुण की ज्योति जगाने का प्रयत्न करता है। इस साधना के पूर्ण हो जाने पर उसे जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और वह 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'सोऽहं' इत्यादि सिद्धांतों में विश्वास करने लगता है। उसके लिए एकमात्र ब्रह्म ही सत्य तथा जगत्-मिथ्या हो जाता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त साधक योगी के हृदय में वियोग आदि लौकिक अनुभूतियाँ नहीं रह जातीं। वह हर्ष और शोक से निवृत्त हो जाता है। वह उद्धव के शब्दों में विचार करने लगता है कि 'आपु ही सौं आपकौ मिलाप औ बिछोह कहा मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है' ॥१६॥ अतएव योगी अपने अस्तित्व को ब्रह्म के अस्तित्व में लीन कर देने में ही अपने जीवन को सार्थक समझता है। उसकी दार्शनिकता का उद्देश्य यही है। रत्नाकर जी के उद्धव ऐसे ही साधकों के प्रतिनिधि हैं। वे गोपिकाओं की आत्मा को परमात्मा में ऐसा लीन करने का आदेश देते हैं जिससे निरन्तर जड़चेतन-विलास विकसित होता रहे। अतएव अविचल मिलाप के लिए 'जोग जुगति' की सहायता से ज्ञान-धन को सञ्चित करना चाहिए, क्योंकि वास्तव में :—

माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
काँच फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम पटल उघारि ज्ञान-आँखिन सौं,
कान्ह सबही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है ॥३२॥

किंतु भक्ति-मार्ग की दार्शनिक दृष्टि इस नीरस तथा कष्ट-साध्य-पद्धति के बिलकुल विपरीत है। वहाँ तो सारी विधियाँ निषिद्ध हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित मार्ग में केवल प्रेम-लक्षणा भक्ति ही प्रधान रही उसमें केवल भगवत्-कृपा से ही भक्ति की प्राप्ति है। कर्मकाण्ड का निराकरण है और केवल आत्मार्पण के आधार पर ही उस परम आनन्दमय की प्राप्ति होती है। यद्यपि शंकराचार्य ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किए थे। एक नाम रूप विशिष्ट-सगुण और दूसरा पूर्णतया निर्विकार निर्गुण, किंतु उन्होंने दूसरे रूप को ही वास्तविक ब्रह्म का पारमार्थिक रूप स्वीकार किया था। प्रथम को उन्होंने केवल व्यावहारिक मात्र माना था। इन्हीं दोनों ब्रह्मों में श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयत्न उद्धव-गोपी संवाद शैली में देखा जा सकता है। इस मधुर भक्ति की उपासना का परमलक्ष्य उस लीला-शाली के आनन्दमय-स्वरूप को प्राप्त करना है जो निरन्तर अपने अंशरूप जीवों में अपने आपको वितरित करता रहता है। सृष्टि की रचना अथवा जीवों के रूप में अपना आविर्भाव और तिरोभाव करता हुआ ब्रह्म निरंतर अपने आनन्दस्वरूप को चरितार्थ करता है। वह स्वयं आनन्दरूप है और अपनी सृष्टि में भी आंशिक रूप से आनन्द का वितरण करता रहता है। आंशिक रूप में आनन्द को प्राप्त करनेवाले जीव पूर्ण आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इस प्रकार अपने आपको उसके निकट पहुँचाने की क्रिया में जीव निरन्तर लगा रहता है। अतएव उसे भी आंशिक रूप से आनन्द-रूप कहना अनुचित नहीं है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच शुद्ध अद्वैतभाव का प्रतिपादन करते हुए वल्लभस्वामी ने अपने मत को शुद्धाद्वैतवाद कहा। भक्ति के क्षेत्र में यही शुद्धाद्वैतवाद पुष्टिमार्ग कहलाता है।

वल्लभस्वामी के समकालीन ही बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उनके सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के युगलस्वरूप की उपासना होती है। इनके दो प्रमुख शिष्य जीवगोस्वामी तथा गोपालभट्ट मुख्यरूप से प्रचार-कार्य करते थे। श्रीगोपालभट्ट ने वृन्दावन में श्रीराधारमण जी का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर वृन्दावन में अब तक विद्यमान है तथा वैभवशाली है। २५२ वार्ताओं से ज्ञात होता है कि चैतन्य महाप्रभु को भक्ति की दीक्षा देनेवाले श्री ईश्वरपुरी गोस्वामी थे, जो माधवेंद्रपुरी गोस्वामी के शिष्य थे। माधवेंद्रपुरी का नाम वल्लभसम्प्रदाय की वार्ताओं में आया है। माधवेंद्रपुरी की भक्ति-पद्धति की शिक्षा गोस्वामी विट्ठलनाथ को भी मिली। इस प्रकार चैतन्य और विट्ठल के भक्ति-मार्ग में बहुत कुछ साम्य होना स्वाभाविक

ही है। वल्लभाचार्य और चैतन्य की भेंट भी हुई थी और दोनों एक दूसरे की भक्ति से भी प्रभावित हुए थे। वल्लभाचार्य ने बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथजी की सेवा में भी रखा था। इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति बहुत कुछ एक दूसरे से प्रभावित थी और रत्नाकर जी राधारमण के सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इस सम्प्रदाय के भक्ति-सम्बन्धी ग्रंथ, रस और भक्ति के सिद्धांतों के समन्वय पर लिखे गए हैं और नायिका भेद इत्यादि के सिद्धांतों को लेकर प्रेम की व्यापक तथा गम्भीर व्याख्या के द्वारा भक्ति को चरितार्थ किया गया है। मधुर भाव पर चैतन्य सम्प्रदाय में विशेष बल दिया गया है। वल्लभ के सम्प्रदाय में बालभाव पर विशेष जोर दिया गया है। चैतन्य के सम्प्रदाय में परमतत्त्व एक है किंतु उपासना भेद से अलग-अलग प्रकार से अनुभूत होता है। परमतत्त्व स्वयं श्रीकृष्ण हैं। उनका वृन्दावन व ब्रजलीला रूप पूर्णतम है।

चैतन्य के इस अचित्य भेदाभेदवादी सम्प्रदाय में जीव उसकी सत्, चित्, और आनन्द स्वरूपिणी अंतरंगा शक्ति से प्रकट नहीं होता। यह भगवान् की तटस्थ शक्ति से उसी प्रकार प्रकट हुआ है जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकली हैं। जीव भगवान् की नित्य शक्ति से प्रकट होने के कारण स्वयं भी नित्य है। वल्लभ-सम्प्रदाय में जीव भगवान् की चिद्-शक्ति से उत्पन्न माना गया है। इस सम्प्रदाय में सत्संग, नामलीला, वृन्दावनवास, कृष्णमूर्ति की पूजा-सेवा के साधक स्वीकार किए गए हैं और सभी वर्गों के लिये यह सम्प्रदाय खुला रहा है।[1]

इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि रत्नाकर जी गौड़ीय माध्वसम्प्रदाय के अनुयायी हैं तथापि उनके वल्लभ तथा चैतन्य के सिद्धांतों का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक दृष्टि से रत्नाकर जी राधाकृष्ण के उपासक वैष्णव भक्त थे। उनके ग्रन्थों में वैष्णव-भक्ति की उपासना-पद्धति का विस्तृत रूप देखने को मिलता है। मधुर-भक्ति के आधार पर कृष्ण को इष्ट देव मानकर उनके प्रति आत्मीयता का भाव स्थापित करना ही इन भक्तों की उपासना-पद्धति है। इष्टदेव

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, डाक्टर दीनदयाल गुप्त, पृष्ठ ५४–६३ के आधार पर।

से किसी प्रकार का विभेद-भाव भक्त नहीं रखता। अपने हृदय का उद्घाटन वह अपने इष्ट देव के सम्मुख मुक्त रूप से कर देता है। अपने इष्टदेव की सेवा वह स्वयं अपने हाथ से करता है। सेवकों के द्वारा नहीं करवाता और न ऐसे लोगों के सम्मुख अपने हृदय का उद्घाटन करता है जो भगवत्-भक्त नहीं। अपने इष्ट देव का ध्यान वह परम सुन्दर रूप में करता है। उसके विविध शृङ्गार, अलङ्करण आदि करना भी वह अपना कर्तव्य समझता है। कोई भी वस्तु बिना इष्टदेव को अर्पित किए वह ग्रहण नहीं करता। प्रत्येक वस्तु भगवदार्पण करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। भगवद् भक्ति के लिए स्वाध्याय, कर्मकाण्ड इत्यादि के ऊपर विशेष बल नहीं दिया जाता केवल अहिंसा, सत्य, सहनशीलता, क्रोध-परिहार इत्यादि सिद्धान्त इनके जीवन में प्रधान रहते हैं। ब्रह्मचर्य इत्यादि का कोई स्थान इन भक्तों के जीवन में नहीं रहा और न स्वाध्याय पर ही बल दिया गया। फलतः इस सम्प्रदाय के भक्त विशेष विद्वान् नहीं हुए। रत्नाकर जी में इन सिद्धांतों के अनुकूल कृष्ण के स्वरूप को देखने की प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु उन्होंने एक ओर यदि कृष्ण का यह आनन्दमय स्वरूप अंकित किया है तो दूसरी ओर राम, शिव, गंगा इत्यादि देवी, देवताओं का भी बहुत भक्ति-भावना पूर्ण प्रभावशाली चित्रण किया है। उनके धार्मिक विश्वासों में पक्षपात का आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता। अयोध्या और काशी में निरंतर निवास करने के कारण राम, शिव और गंगा की भक्ति ने समान रूप से इन्हें प्रभावित किया था। कृष्ण-भक्त तो वे परम्परा से थे ही। उनकी कृष्णोपासना में दार्शनिक-सिद्धान्तों का समावेश उद्धवशतक में बहुत कुछ स्पष्ट होकर आया है। वही उनका पैतृक तथा परम्परागत धर्म था। इसका उन्होंने आग्रहपूर्वक पालन किया है, किन्तु तुलसी के समान इन्होंने अन्य देवताओं के प्रति भी अपनी गहरी आस्था प्रकट की है। अतः इनका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत कुछ उदार लगता है। वास्तव में हिन्दू-समाज में सब धर्मों के प्रभाव के कारण तथा भागवत-धर्म के विशेष प्रभाव के कारण जो पंचदेवोपासना प्रचलित हो गई थी, रत्नाकर जी उससे पूर्णतया प्रभावित हैं और इसी कारण इनके काव्य में सभी देवताओं के प्रति समान भक्ति का आग्रह प्राप्त होता है।

साहित्यिक विचार-धारा

रत्नाकर जी की साहित्यिक विचार-धारा बहुत कुछ परम्परावादी है। जिस प्रकार भक्ति अथवा शृङ्गार-युगीन कवियों का आदर्श अधिकांश अपने

पूर्ववर्ती साहित्यकारों का अनुगमन करना मात्र रहा है, उसी प्रकार रत्नाकर जी भी काव्य तथा साहित्य की परम्परा का पालन मात्र करना अपना चरम लक्ष्य समझते हैं। इनके काव्य का उद्देश्य यदि किसी सीमा तक भौतिक लाभ के लिए कहा जा सकता है तो वह अधिक से अधिक यश-प्राप्ति के लिये ही हो सकता है, अन्यथा इनकी रचना स्वान्तः-सुखाय कही जा सकती है। इस स्वान्तः-सुखाय काव्य-रचना के मूल में भक्ति और कला दोनों प्रवृत्तियाँ काम करती हुई दिखाई पड़ती हैं। दोनों ही वृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए इन्होंने काव्य-रचना की है।

आदर्श मनुष्य-जीवन का अनिवार्य अवलम्ब है। विना आदर्श के मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। यह प्रश्न दूसरा है कि उस आदर्श में उपयोगिता की मात्रा कितनी है। रत्नाकर जी ने भी साहित्य-सम्बन्धी स्वीकृत आदर्शों का बड़ी गहराई के साथ पालन किया है। साहित्य के क्षेत्र में इनका सबसे बड़ा आदर्श अपने भावों की कलात्मक-अभिव्यंजना है। प्रेम और सौन्दर्य के आदर्शों को ग्रहण करके इन्होंने उन्हें उच्चतम सात्विक अथवा उज्ज्वल रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि मानवीयता के स्तर से उठकर प्रेम और सौन्दर्य का स्वरूप अलौकिक हो उठा है। इसका प्रमुख कारण इनकी भक्त्यात्मक वृत्ति भी है। दूसरी ओर, जहां ये केवल कलात्मक दृष्टि से प्रेम और सौन्दर्य को देखते हैं वहां पर इनके चित्रण बड़े ही स्थूल तथा मानवीय जान पड़ते हैं। ऐसे स्थलों पर ये प्रेम और सौन्दर्य के यथार्थवादी कवि जान पड़ते हैं और इनकी परम्परा शृङ्गारयुगीन कही जा सकती है।

रत्नाकर जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से हमें कुछ ऐसे तत्त्व मिलते हैं जिनके आधार पर हम इनकी साहित्यिक विचार-धारा का विभाजन कर सकते हैं।

रत्नाकर जी कलात्मकता को अपने काव्य में विशेष स्थान देते हैं। एक प्रकार से इन्हें अलंकारवादी कवि कहा जा सकता है। किन्तु इनका अलंकारवाद केशव की आलंकारिकता के अनुरूप न होकर उस ध्वन्यात्मकता की ओर झुका हुआ है जिसमें उस अलंकारवादिता को व्यर्थ माना गया है जिससे रस-सिद्धि नहीं होती। अतएव इनके काव्य में कला और रसात्मकता का सुंदर समन्वय दिखलाई पड़ता है। इनकी कला का अन्यतमरूप इनकी चित्रणशक्ति,

इनके भाषा-सौष्ठव, नाद-सौन्दर्य, छंद : प्रवाह इत्यादि में देखा जा सकता है। रसानुभूति तो हृदय की वस्तु है और वह मनुष्य को वातावरण से भी प्राप्त हो सकती है और अध्ययन से भी। कला की सिद्धि साधना से ही सम्भव है और रत्नाकर जी का काव्य बहुत कुछ साधना के आधार पर परिपुष्ट हुआ है, इसमें संदेह नहीं। इस साधना के लिए इन्होंने अपने मस्तिष्क तथा अपने हृदय दोनों को सजग बनाए रखा है। इनका अध्ययन विस्तृत रहा है। काव्य-सिद्धांतों से ये बहुत कुछ अवगत हैं और उनके उचित उपयोग को भी जानते हैं। दूसरी ओर ये सूक्ष्मदर्शी हैं। इनका लोकज्ञान बहुत ही व्यापक है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में इनकी जानकारी बहुत विस्तृत है। मानव-स्वभाव के ये पंडित हैं और दैनिक जीवन की सामान्य से सामान्य घटना को वे अपने काव्य की सफल सामग्री बना लेते हैं। वास्तव में ऐसी व्यापक दृष्टि रखनेवाले साहित्यकार ही सत्कवि कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं।

भाषा की दृष्टि से रत्नाकर जी अपने काव्य में मौलिक आदर्शों का परिचय देते हैं। इन्होंने ब्रजभाषा का एक बड़ा ही सौम्य तथा सुष्ठु रूप प्रस्तुत किया है। नन्ददास की संगीतात्मकता तथा माधुरी, घनानंद की गहरी अनुभूति, देव की कल्पना तथा बिहारी की कलात्मकता के आधार पर इन्होंने बड़ी ही सुसंगठित तथा प्रौढ़-भाषा का निर्माण किया है। विद्वत्ता के आधार पर इतने उच्चस्तर की भाषा का निर्माण करके भी रत्नाकर जी ने उसे लोक-प्रचलित रूप देने का प्रयत्न किया है जो उनकी व्यवहार-बुद्धि का परिचायक है।

उर्दू कवियों के समान अथवा रीति युग के कवियों के आदर्श पर वे केवल कुछ ही छंदों पर अधिकार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस तथ्य के पीछे भी इनकी साधनात्मक वृत्ति का पता चलता है। घनाक्षरी पर इन्होंने एक आधिपत्य प्राप्त किया है तथा प्रबन्ध-रचना के लिए इन्होंने रोला को पूर्णतया अपना बना लिया था। इन छन्दों के ऊपर इनका जो अधिकार था उसके फलस्वरूप इन्हें घनानन्द, देव, पद्माकर तथा नन्ददास जैसे कवियों की समकक्षता प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। रत्नाकर जी काव्य को भावाभिव्यंजना का साधन मानते हैं। ये उसकी उपयोगिता पर उतना ध्यान नहीं देते। सम्भव है इनके इस दृष्टिकोण के कारण इस युग में इनके काव्य की महत्ता खोती हुई जान पड़े, किंतु रत्नाकर जी में आधुनिकता की दृष्टि से राष्ट्रीयता, धर्म-संस्थापना, मानवतावाद, नव-जागरण दृष्टि आदि तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं। अतएव ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनके विचार अपने युग की

पूर्णतया उपेक्षा कर रहे थे। यह अवश्य है कि वे परायणवादी साहित्यकार थे और काव्य की विचारधारा ही इनका आदर्श था। अतएव इन्होंने उसी को अपनाया और उसी को अपना आदर्श बनाया।

संक्षेप में रत्नाकर जी का साहित्यिक विचारधारा विद्वत्तापूर्ण, कलात्मक, रसपूर्ण तथा आत्मनिष्ठ-तन्मयतापूर्ण थी। अपने आदर्श-पालन में इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं।

———

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में रत्नाकर का स्थान

कवि के गौरव की परीक्षा हम उसकी प्रभावशालिनी शक्ति तथा उसके संदेश के आधार पर करते हैं। कवि हमारे मर्म का स्पर्श कितनी सफलता के साथ कर सकता है अथवा वह हमें नव-जागृति अथवा नव-निर्माण का कितना सफल संदेश दे सकता है, इन्हीं तथ्यों पर कवि का महत्त्व आश्रित है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि की कला तथा वस्तु-विषय कितनी सशक्त है।

रत्नाकर जी की परीक्षा यदि इन सिद्धांतों के आधार पर की जाए तो यह पता चलेगा कि वे प्रथम तत्त्व के तो पूर्ण अधिकारी हैं किंतु द्वितीय तत्त्व को ये प्रत्यक्षत: लेकर नहीं चल रहे हैं। इसलिए इनका कलाकार का रूप जितना विकसित होकर हमारे सम्मुख आया है, उतना संदेश-वाहक का नहीं। इस तथ्य पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि रत्नाकर जी हिंदी-साहित्य की कई युगों की परम्परा के उपसंहार-स्वरूप हमारे सम्मुख अवतीर्ण हुए। वीर-काव्य, भक्ति-काव्य, तथा रीति-काव्य की परम्पराएँ तो अपना-अपना प्रभाव साहित्य-क्षेत्र में छोड़ ही चुकी थीं। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय-भावना नवनिर्माण के प्रति सजगता तथा मानवतावाद की प्रवृत्तियाँ भी जन-जीवन को प्रभावित कर रही थी। रत्नाकर जी इन सम्पूर्ण प्रवृत्तियों के एक समन्वित रूप बनकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

रत्नाकर का युग भारतीय समाज में विषमता का युग था। अंग्रेजी शासन का दुष्परिणाम वर्ग-भेद के रूप में व्यक्त हो रहा था। एक ओर जमींदारों और तालुकेदारों की सम्पन्नता और विलासिता थी दूसरी ओर जन-साधारण की बुभुक्षा और पीड़ा। शिक्षा का स्वरूप संस्कृत के आधार पर निर्मित नहीं हुआ था। अतः नवीन शिक्षा हमें अपनी संस्कृति से गिराती ही अधिक थी। फलतः सामाजिक रीति-रिवाजों को मूर्खतापूर्ण समझ कर त्यागा जा रहा था। धर्म के क्षेत्र में भी यही दशा थी। ऐसी स्थिति में प्राचीनतावादी कवि अथवा कलाकार, (इन विषमताओं से अधिक से अधिक दूर रहकर अपनी परम्पराओं के बंधन में बँधा हुआ) रूढ़िगत मार्ग को पकड़े हुए एक ही रास्ते से चलता चला जाता है। रत्नाकर जी इसी प्रकार के कवि थे। वे भक्ति,

रीति तथा भारतेन्दु-युग की परिस्थितियों से प्रभावित थे। भक्त-कवियों में सूर, नंददास, रसखानि तथा घनानंद जैसे कवियों के समकक्ष इन्हें रखा जा सकता है। रीतिकालीन कवियों में भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, दास, पद्माकर और द्विजदेव जैसे कवियों से इन्होंने 'बहुत कुछ प्राप्त किया। भारतेन्दु-युग की कथात्मक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों का समन्वित रूप इनके हरिश्चन्द्र तथा गंगावतरण काव्यों में मिलता है। इस प्रकार पंडित नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में रत्नाकर जी के विषय में यह मत दिया जा सकता है—'भक्तों की अपेक्षा वे साधारणतया अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी हैं। हम कह सकते हैं कि भक्तों और शृङ्गारियों के बीच की कड़ी रत्नाकर के रूप में प्रकट हुई थी। उनकी रचना में उनका नया अभ्यास, नया प्रबन्ध-कौशल और नए बुद्धिवादी युग का व्यक्तित्व भी दिखाई देता है।"[१]

इस प्रकार रत्नाकर का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ये एक ओर कलावादी हैं तो दूसरी ओर बुद्धिवाद की झलक भी इनमें विद्यमान है। अतः ये अपने युग से पूर्णतया तटस्थ हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शैली की प्राचीनता में भी इन्होंने विचार की नवीनता का ध्यान रखा है और इसलिए रीति-युगीन परम्परा का पालन करते हुए भी ये उस रूप के पोषक नहीं कहे जा सकते जो इन्हें हृदयहीन बना देता। ये भावुक हैं किंतु असंतुलित नहीं हैं और बुद्धिवादी होते हुए भी इनमें सरसता है। यही इनके व्यक्तित्व की विशेषता है जो इन्हें हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

कवि के काव्य में जीवन के लिए नव-संदेश का होना उसके गौरव का सूचक है, यह पहले कहा जा चुका है। इस कसौटी पर भी हम रत्नाकर जी की परीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। रत्नाकर जी के विषय में पंडित नंददुलारे वाजपेयी जी का कथन है—"विगत युग के संस्कारों की स्थापना नव्यतर युग में करना एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्यसुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है किन्तु वह युग का अनिवार्य काव्य नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्ट साहित्य सदा अनिवार्य ही हुआ करता है............किन्तु रत्नाकर जी अपने काव्य में जीवन की ऐसी कोई मौलिकता और अनिवार्यता लेकर नहीं आए।"[२]

---

१. हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ३०।
२. हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ११।

वाजपेयी जी की यह आलोचना यद्यपि अनेक अंशों में सत्य कही जा सकती है, किन्तु कुछ बातें इसके प्रतिकूल पक्ष में भी उपस्थित की जा सकती हैं। वाजपेयी जी का प्रथम आक्षेप यह है कि रत्नाकर जी ने विगत युग के संस्कारों की स्थापना करने का प्रयत्न किया है। यदि वास्तव में रत्नाकर जी प्रचारक रूप में संस्कारों की स्थापना करते हुए मान भी लिए जायँ तो हम स्पष्टतया देखेंगे कि वे भक्ति तथा शृङ्गार के संस्कारों का स्थापन करना चाहते हैं। सम्भवतः भक्ति के संस्कारों को इस धर्म-प्राण भारतवर्ष में विगतयुगीन कहना विशेष उपयुक्त नहीं होगा। शृङ्गार और प्रेम-सम्बन्धी संस्कारों को त रस-शा स्त्रयों ने शाश्वत माना ही है, किंतु यदि हम यह भी स्वीकार कर लें कि वाजपेयी जी का तात्पर्य वासनामय शृङ्गार के चित्रण से है, जो मध्य-युगीन समाज की विशेषता थी, तो भी यह कहना पड़ेगा कि इस प्रकार की विलासिता का समाज से उस समय तक लोप भी नहीं हो गया था। रत्नाकर जी रजवाड़ों में पले थे और ये रजवाड़े विलासिताओं के केन्द्र थे, इसमें सन्देह नहीं। रीतियुग में भी शृङ्गारपूर्ण दृश्यों के केन्द्र यही रजवाड़े थे, साधारण गृहस्थ-जीवन नहीं। इस प्रकार रत्नाकर जी के लिए यह सब चित्रण इनके अपने ही युग में सम्मिलित थे। कृत्रिमता इनकी शैली में हो सकती है और इससे वाजपेयी जी ने रत्नाकर जी के काव्य को सुशोभन और गौरवास्पद स्वीकार किया ही है। क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जो सुशोभन और गौरवास्पद है, वह स्वतः आदर्श है? इनमें केवल सौन्दर्य का ही आदर्श हो सकता है और वह आदर्श काव्य के आधार पर घटित किया गया भी हो सकता है, किंतु जो सौंदर्य का आदर्श है वह अवश्य ही हमें अभिभूत करने की शक्ति रखता है और यही इनकी सफलता है। इस सौंदर्य की चमत्कारमयी धारा में पाठक अनिवार्यतः कुछ क्षणों के लिए निमज्जित होना चाहता है। क्या हमारे मनोभावों को रस-मग्न करके पवित्रता की सीमा तक पहुँचा देने के लिए यह काव्य पर्याप्त नहीं है और क्या ऐसे काव्य को उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता?

भगवान् कृष्ण के लौकिक-स्वरूप का अलौकिक चित्रण विद्यापति, सूर, और मीरा जैसे भक्त कवियों ने भी किया था। कृष्ण को आलम्बन मानकर इन कवियों ने भी मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्रण हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। रत्नाकर जी इन दोनों के समन्वित रूप हैं और इनके काव्य से यदि एक ओर हमें भक्ति की पवित्र धारा प्रवाहित होती हुई

दिखलाई पड़ती है तो दूसरी ओर मानव-स्वभाव का चित्र उपस्थित करके वे हमारे सम्मुख एक यथार्थवादी साहित्यकार के रूप में उपस्थित होते हैं। हम सूर और तुलसी से उनकी तुलना करना आवश्यक नहीं समझते। मिश्र-बन्धुओं ने सूर और तुलसी को किसी भी वर्ग अथवा श्रेणी से ऊपर माना है, यही ठीक भी है। रत्नाकर जी का मूल्यांकन तो उन लौकिक कवियों के बीच में रखकर होना चाहिए, जो मानव दुर्बलताओं को चित्रित करने में भी इसलिए नहीं हिचकते क्योंकि वह उनका स्वभाव है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट.

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल
३. हिन्दी का आदि-काल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
४. हिन्दी साहित्य की भूमिका, ,, ,, ,,
५. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
६. आलोचनात्मक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा
७. विहारी, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
८. काव्य-कल्पद्रुम, कन्हैयालाल पोद्दार
९. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह
१०. कांग्रेस का इतिहास, श्री हरिभाऊ उपाध्याय
११. अयोध्या का इतिहास, लाला सीताराम
१२. हिन्दी-साहित्य, बीसवीं-शताब्दी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
१३. उद्धव-शतक की भूमिका, डा० रामशंकर शुल्क 'रसाल'
१४. काव्य के रूप, बाबू गुलाबराय
१५. काव्य-दर्पण, पं० रामदहिन मिश्र
१६. हिन्दी-साहित्य, बाबू श्यामसुन्दर दास
१७. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त
१८. आचार्य केशवदास, डा० हीरालाल दीक्षित
१९. रेखा-चित्र, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
२०. राधाकृष्णदास ग्रन्थावली,
२१. भारतेन्दु ग्रन्थावली,
२२. मानस-दर्शन, डा० श्रीकृष्णलाल
२३. भारतीय-साहित्य-शास्त्र, बलदेव उपाध्याय
२४ कविवर रत्नाकर, श्री कृष्णशंकर शुक्ल,
२५. उद्धवशतक परिशीलन, श्रीअशोक

२६, 'बिहारी-रत्नाकर' की भूमिका, श्री जगन्नाथदास रत्नाकर'

२७. कविवर विहारी, श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

२८. कोषोत्सव स्मारक संग्रह, बाबू श्यामसुन्दर दास

२६. सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

३०. रत्नाकर जी की ग्रन्थावली, नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी—(बाबू श्याम सुन्दरदास द्वारा सम्पादित)

३१. पत्र-पत्रिकाएँ : सरस्वती, माधुरी, विशाल-भारत तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा की पत्रिका की फाइलें ।

— — —

पो० बॉ० नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी।

मूल्य ५.०० रुपया

कवर-मुद्रक विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०, मानमन्दिर वाराणसी।